जैन भारती

जुलाई 2014 • वर्ष 62 • अंक 7 • वार्षिक ₹ 200

क्षणभंगुर भव राम राम

VAB VENTURES

Leadership with Trust...

VAB Ventures Ltd.

60 B Chowringhee Road, Suite : 3/2/1, 3rd Floor
KOLKATA 700020, West Bengal, India
Tel. : (+91) 3322900112-114 | Fax : (+91) 3322900115
E-mail : arihantbaid@vabventures.in, www.vabventures.in

Sugar ◆ Pharmaceuticals ◆ Biotech ◆ Real Estate ◆ Financial Services ◆ Education ◆ Infotech

ACHARYA SRI KAILASSAGARSURI GYANMANDIR
SRI MAHAVIR JAIN ARADHANA KENDRA
Koba, Gandhinagar-382 009
Phone : (079) 23276252, 23276204-0

जैन भारती

वर्ष 62 • जुलाई 2014 • अंक 7

अनुक्रम

1.	संपादकीय		5
2.	अकेलेपन से उपजी समस्या	आचार्य महाप्रज्ञ	7
3.	उपदेश उपदेश नहीं, पथदर्शन है	आचार्य तुलसी	11
4.	तेरापंथ : पहचान की पादवीथियों पर	साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा	15
5.	ओ क्षणभंगुर भव! राम-राम।		21
6.	कौन करता है कल का भरोसा	आचार्य तुलसी	23
7.	कौन-सा है अपना देश?	आचार्य तुलसी	26
8.	नौका से पार पहुंचो	आचार्य महाश्रमण	29
9.	जीवनशैली और स्वास्थ्य	आचार्य महाप्रज्ञ	31
10.	वर्षायोग अध्यात्म के नए प्रयोग	साध्वी कनकश्री	35
11.	चतुर्मास प्रारंभ होने पर कैसे करें साधना?	आचार्यविजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी	38
12.	एक दृष्टिकोण अध्यात्म के प्रति	रणजीत दूगड़	42
13.	अच्छे बुरे की तुलना	शंकरलाल मेहता (बाबूजी)	46
14.	विनायक विनोबा बने	मीरा	49
15.	अवधू! सदा मगन में रहना!	प्रियदर्शन	52
16.	इतिहास अमर है	मुनि वत्सराज	54
17.	निर्भय नहीं तो छलांग लगाइए		55
18.	गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्	मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'	57
19.	महासभा–सूचना		58

सम्पादक
डॉ. शान्ता जैन

आवरण
गौरीशंकर

संपादकीय संपर्क सूत्र : डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, 341306

प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन-महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/– • त्रैवार्षिक 500/– • दसवर्षीय 1500/–रुपए

* Contact us at: jainbharatitms@gmail.com

जगद्वन्द्यः स्वामी विशद चरितो नाम तुलसी

31144

नश्वरता का बोध

वृक्ष तणों ज्यूं पाको पानडो रे, ते पड़तां काय न लागै वार रे।
ज्यूं तूटै आउखै मिनष नों रे, तब कोई न सके राखण हार रे।।

मात पितादिक ऊभा मेलनें रे, पर भव में जासी एकलड़ो आप रे।
विछड़ियां नें पाछो मिलणो दोहिलो रे, कुण गति में जासी मा बेटो बाप रे।।

जीवड़ो तो उलझ रह्यो माया मझे रे, बले स्त्री मात पितादिक मांय रे।
तांणां वेजा तिणरे लग रह्या रे, पिण आसा उलधा छोड़ी जाय रे।।

जीव काया छोड़ तिण अवसर रे, चिंतवे मन मांहे अनेक जंजाल रे।
म्हें धन जीवन रो लाहो लीयो नहीं रे, इम विल विल करतो कर जाए काल रे।।

जीवड़ो तो जाणें केई दिन थिर रहूं रे, पिण मरण आगे नहीं लागे जोर रे।
जन्म मरण री सगला जगत में रे, मुदे तो आहिज मोटि खोड़ रे।।

काया माया सगली छै कारगी रे, कारमो छै सगलो परिवार रे।
ते मिल-मिल विलावे बादल नीं परे रे, एहवो छै सगलो अथिर संसार रे।।

धन गडीयो घर मांहें लेंणो लोक में रे, जाणे पुत्रादिक ने देऊं सर्व बताय रे।
जीभ थकी जब न अषे बोलणी रे, ते पित रह गई मन री मन मांय रे।।

कांइ कीधो, कांइ करणो अछे रे, घर घाटादिक विणज व्यापार रे।
वले माया मेलूं करते फिरे रे, पिण काल अणचिन्त्यो न्हांखे मार रे।।

घर रा कारज पूरा कर नहीं सके रे, अधबीच छोड़ चल्या सहु कोय रे।
धंधा मांहिं कलिया रहे सदा रे, ते गया निरर्थक मानव भव लोय रे।।

मिनष तणो भव छै अति दोहिलो रे, उतकष्टों पामें अनंते काल रे।
ते अल्प सुखां रे कारण पड़्या रे, हारे मानव भव मूरख बाल रे।।

एहवो अथिर आउखो जांण ने रे, करो जिणेसर भाष्यो धर्म रे।
जो शुद्ध गति जावा री छै चावनां रे, तो दिन-दिन पतला पाड़ो कर्म रे।।

हूं कवि कहि नें कितरो कहूं रे, संसार छै सगलो अनंत असार रे।
ग्यान दर्शन चारित तप विनां रे, सार में जांणो मूल लिगार रे।।

—आचार्य भिक्षु

यह सोच सही नहीं

दस में से नौ व्यक्ति यह कहते हुए मिलेंगे कि हम अपनी जिंदगी में इसलिए असफल रहे कि हमें कुछ बनने का अवसर ही नहीं मिला। भाग्य ने हमारा साथ नहीं दिया। समाज और परिवार ने हमारी क्षमताओं का सही मूल्यांकन नहीं किया। यह सोच सही नहीं। यदि ऐसा होता तो वो ऐसा क्या था जो उस एक व्यक्ति को मिला और वह कामयाब हो गया। हमारी सफलता का सूत्र है—सही दृष्टिकोण। प्रतिकूलताओं के बीच सुख खोज लेने का अभ्यास। लक्ष्य के प्रति निष्ठा और समर्पण। समय के साथ-साथ चलने का संकल्प। सबसे हटकर जीने का मौलिक अंदाज।

जिनमें कुछ बनने का अदम्य उत्साह है उनके पास सत्ता, संपदा, साथी, सुविधा, सहयोग, समर्थन, सिफारिश कुछ न होने पर भी वे जीवन के हर क्षण को उपलब्धि बना लेते हैं, क्योंकि उनके पास होता है स्वयं पर स्वयं का अखंड विश्वास। कभी न झुकने वाला संकल्प। बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करने का साहस। निश्चित उद्देश्य और काम करने की आशाभरी उम्मीदें।

आंख सबको देखती है, पर नकल नहीं करती। दृश्य का अनुभव सबका अपना-अपना होता है। आज सबकी मानसिकता बन गई कि सब कुछ नया चाहिए—नई सोच, नई शैली, नया चिंतन, नया आकर्षण, नया कार्य, नया परिणाम। बहुत लोग आचार और विचार में बौने इसलिए रह जाते हैं, क्योंकि उनमें जीने की कोई मौलिकता नहीं होती। मौलिकता में रचनात्मक कार्यों का भविष्य दीखता है। ऐसा व्यक्तित्व बिना भीड़ इकट्ठी किए अपने विचारों, आदर्शों, सिद्धांतों, मान्यताओं और निर्णयों में सबकी सहमति पा लेता है, क्योंकि उसकी प्रभावकता में लक्ष्य के प्रति दृढ़ निर्णायकता, निर्भीकता और कभी न थकने वाली गतिशीलता झांकती है।

वह महत्त्वपूर्ण कामों में जल्दबाजी कर गलत निर्णय नहीं लेता। उसके बयानों में न प्रलोभन होता है, न बहकावा, न झूठ-फरेब, न पक्षपात और न वैयक्तिक स्वार्थ। वह

जैसा कहता है उसका सबूत भी स्वयं बनता है। सच में भाग्य का नया विधान वही लिख सकता है जिसकी स्याही में प्रतिज्ञा, पुरुषार्थ और परिणाम के बीच सापेक्ष संतुलन और समन्वय होता है। उनमें आत्मविश्वास होता है कि 'मैं वो सब कुछ बन सकता हूं जो सच में मैं हूं।' अपने आप पर विश्वास के बिना सीधी-चौड़ी साफ सड़क पर भी व्यक्ति की साइकिल लड़खड़ा जाती है। ऐसे लोगों का भाग्य नहीं जागता जो निर्माण की दस्तक सुन उसकी अगवानी नहीं करते।

क्षमताओं का मूल्यांकन भी धैर्य और सहिष्णुता मांगता है। नाम, पद, प्रतिष्ठा और अर्थ की महत्त्वाकांक्षा के साथ जीने वाला व्यक्ति अपने दायित्वों को ईमानदारी से नहीं निभा पाता। बिना त्याग, विवेक, संतुलन और निष्ठा के किसी की भी विशेष पहचान नहीं बन सकती।

आज जरूरत है हम अपने व्यक्तित्व की संरचना में औरों के मुहताज न बनें। भगवान महावीर का यह संदेश हमारे लिए सीख बने–'पुरुष! तू स्वयं अपना भाग्यविधाता है।' औरों के सहारे मुकाम तक पहुंच भी गए तो क्या? उम्रभर एहसानों तले दबे रहना भी तो परवशता है।

सच तो यह है कि रेशमी गद्दों पर उबासियां लेते हुए जागते रहने का एहसास कभी किसी को उज्ज्वल भविष्य नहीं दे सकता। ऐसे लोगों के कर्तृत्व की गतिशीलता थम जाती है। उनका चिंतन, स्वभाव, संस्कार सभी कुछ गलत दिशा में मुड़ जाता है। वे अच्छाइयों का श्रेय औरों को बांट नहीं सकते और बुराइयों के लिए स्वयं की समीक्षा नहीं कर सकते कि मैं कहां गलत हूं।

सिर्फ भीड़ का हिस्सा बनकर हम न जीएं और न ही श्रेष्ठताओं की पहचान के लिए औरों के उदाहरण खोजें। हम स्वयं उदाहरण बनने का पुरुषार्थ करें। विकास-पथ में चट्टानों के बीच नए रास्ते बनाएं जो ऊंचाइयों तक पहुंचने में सीढ़ियां बन सकें। यह वह क्षण है जिसे हम जागृति के साथ जीकर सार्थक उपलब्धि बना सकते हैं और आचार्यश्री महाश्रमण के दिखाए पथ पर चलकर सफलता के ऊंचे शिखर छू सकते हैं।

–डॉ. शान्ता जैन

अकेलेपन से उपजी समस्या

आचार्य महाप्रज्ञ

दुनिया एक कहानी है। जीवन के रहस्यों को समझना सरल नहीं है और दुनिया के नियमों को समझना भी सरल नहीं है। सार्वभौम नियम सब पर लागू होते हैं। जो अकृत नियम हैं, बनाये नहीं गये हैं, मौलिक नियम हैं, जागतिक नियम हैं, उन्हें समझना बड़ा कठिन है। ऋषभायन (12) की गतिशील कहानी आगे बढ़ती है। वहां एक अभूतपूर्व घटना घटती है...।

युगल में से एक चला गया। दूसरी कन्या खड़ी है। पर क्या हो गया, उसे पता नहीं। घटना को जानना एक बात है और घटना की व्याख्या करना दूसरी बात है। आंखों ने देख लिया, पर मन में विवेचन और विश्लेषण की शक्ति नहीं है। इस स्थिति में कुछ निश्चय नहीं कर सकती कि यह क्या है? आंख से देखना ज्यादा महत्त्व का नहीं होता। महत्त्व है विश्लेषण का। मन के द्वारा उसका विश्लेषण किया जा सके, विवेचन किया जा सके तब परतें खुलती हैं और कुछ पता लगता है। अभी तो केवल घटना है। घटना को जान लेने से क्या होता? घटना जान ली–भाई सो रहा है, वह उठ नहीं रहा है। बहुत प्रयत्न किया। पर नींद नहीं टूट रही है। कुछ भी नहीं हो रहा है। एक सो रहा है और एक खड़ी है।

माता-पिता का युगल दूरी पर बैठा था। अचानक उनके शरीर में कंपन-सा हो गया। एक सिहरन-सी हुई। उन्होंने सोचा–क्या हुआ? यह कंपन क्यों हो रहा है? एक अज्ञात प्रेरणा जागी कि अब यहां से उठकर संतान के पास जाना चाहिए। किसी ने फोन नहीं किया, किसी ने फैक्स नहीं किया, वायरलेस सूचना नहीं मिली, कुछ भी नहीं। ये सब तो मनुष्य के द्वारा कृत साधन हैं जिनके द्वारा सूचनाएं पहुंचाई जाती हैं, किंतु प्रकृति से हमारे विचारों की तरंगें, घटना की तरंगें संबद्ध व्यक्तियों के पास अपने आप पहुंच जाती हैं। पता लग जाता है कि कुछ हो रहा है, कुछ हुआ है। अज्ञात नियम को हम नहीं जानते, सूक्ष्म तरंगों को भी नहीं जानते किंतु उसका अनुभव हो जाता है।

कहा जाता है–भगवान ऋषभ का जन्म हुआ और इन्द्र को पता लग गया। उस समय की जो सूक्ष्म तरंगें थीं, वे वहां पहुंचीं और इंद्र का आसन कंपित हो गया। देवताओं को सूचनाएं ऐसे ही मिलती हैं। कोई व्यक्ति देवता की साधना करता है और ठीक बिंदु पर उसकी साधना पहुंचती है तो वहां से ऐसी तरंगें जाती हैं जो उस देवता के आसन को प्रकंपित कर देती हैं। कहा जाता

है–आसन हिल गया, आसन कंपित हो गया। उससे पता लग जाता है कि कोई व्यक्ति मुझे बुला रहा है। ये सूक्ष्म जगत के नियम हैं।

युगल के माता-पिता का शरीर एकदम कांप उठा। उठे, चले और चलकर उस ताड़ वृक्ष के आस-पास पहुंचे। दूर से ही देखा–एक कोई खड़ा है और एक कोई सो रहा है। नजदीक आये, देखा–कन्या तो प्रतिमा की भांति अडोल खड़ी है और बेटा लेटा हुआ है। क्या हुआ, वे भी नहीं समझ पा रहे थे।

आज तक किसी पिता के सामने पुत्र की मृत्यु नहीं हुई। यह पहली घटना थी। मौत को जानते ही नहीं थे। वियोग नाम की चीज पैदा नहीं हुई थी। बस स्वाभाविक प्रक्रिया चलती थी कि युगल-युगल को जन्म देता और छह महीने बाद मर जाता। संतान ने तो माता-पिता की मृत्यु को देखा था, पर पिता ने पुत्र अथवा पुत्री की मृत्यु को कभी नहीं देखा। यह अज्ञात था। निकट आये, आकर देखा–क्या बात है? उस कन्या से पूछा–'क्या हुआ?' कन्या बोल नहीं पा रही है। शून्यवत खड़ी है। फिर पूछा–'बेटी! बताओ, क्या हुआ?'

बोली–'पिताजी! ऊपर से एक ताड़ इसके सिर पर गिरा। यह सो गया। उठ नहीं रहा है। अब क्यों नहीं उठ रहा है, मुझे पता नहीं।'

पिता ने देखा–कोई न कोई दुर्घटना हुई है। पिता थोड़े अनुभवी थे। पर वे ज्यादा नहीं जानते थे।

पहली घटना किसी पिता के,
सम्मुख पुत्र विलीन हुआ।
चंचल मन भी आज अचंचल,
अपनी लय में लीन हुआ।।
काल मृत्यु से परिचित था युग,
असमय मृत्यु कभी न हुई।
प्रश्न रहा होगा असमाहित,
बनी मनःस्थिति छुई मुई।।

शब्द का विकास अर्थ के साथ होता है। न्यायशास्त्र में एक प्रश्न चर्चित रहा है–पहले शब्द बना या पहले अर्थ बना? पहले पानी बना या पहले पानी शब्द बना? पानी कहते ही हमें उस तरल वस्तु की याद आ जाती है जिसे पीने पर प्यास बुझती है, पर पहले कौन बना? शब्द और अर्थ की मीमांसा व्याकरणशास्त्र में, न्यायशास्त्र में हुई है। शब्द और अर्थ–दोनों का संबंध क्या है? संबंध की मीमांसा का निष्कर्ष यह रहा–पहले अर्थ बनता है फिर कोई उसका वाचक शब्द बनता है। पहले वाच्य, फिर उसका वाचक शब्द। कोई चीज ही नहीं है तो अभिधा कैसे होगी? जब तक अणुबम नहीं बना था, अणुबम शब्द कहां से आता? जब कोई चीज होती है तब दूसरों को बताने के लिए उसका नामकरण करना होता है कि इस चीज को यह कहा जाता है। वाच्य और वाचक का संबंध है। अर्थ के बिना शब्द कैसे गढ़ा जाए? उस समय तक अकाल मृत्यु होती ही नहीं थी तब अकाल मृत्यु शब्द की रचना कैसे हो? जब पहली बार घटना हुई तब शब्द का निर्माण हुआ होगा कि असमय में भी मृत्यु होती है।

माता-पिता और कन्या–तीनों मूर्ति की तरह कुछ क्षण तक खड़े रहे। पिता ने काफी प्रयत्न किया उसे जगाने का। पर कौन जागे? वह तो महानिद्रा में सो गया था। आज का वैज्ञानिक युग होता तो और भी प्रयत्न किया जाता। कुछ समय पहले एक जर्मन युवक की कार ऐक्सिडेंट में मृत्यु हो गई। शरीर अलग हो गया और सिर अलग हो गया। वैज्ञानिकों ने सोचा कि सिर अलग है और सिर जीवित है। जब तक मस्तिष्क की कोशिकाएं जीवित रहती हैं तब तक आदमी मरता नहीं है। उन्होंने सिर को यंत्रों में डाल दिया, ऑक्सीजन देने लग गए और घोषणा कर दी–सिर जीवित है, किसी मानव की धड़ मिल जायेगी तो सिर से जोड़कर उसका निर्माण कर देंगे। यंत्रों के बीच सिर पड़ा है। कृत्रिम श्वास दिया जा रहा है। चारों तरफ नलियां लगी हुई हैं। उसको जिलाने का प्रयत्न कब तक चलता रहेगा, कहा नहीं जा सकता। कहा जा रहा है–अगर किसी का शरीर मिल जाये तो हम दोनों को जोड़कर इसको जिंदा कर देंगे। यह नया

प्रत्यारोपण है। गुर्दे, आंख और हार्ट का प्रत्यारोपण होने लग गया। यह पूरे शरीर का प्रत्यारोपण है। वैज्ञानिक उसी खोज में हैं लेकिन यह अब तक संभव नहीं हो पाया है।

वह जमाना विज्ञान का जमाना नहीं था, आदम का जमाना था। अकाल मृत्यु की बात ही नहीं जानते थे। फिर कैसे उठाये? कोई साधन नहीं था। काफी प्रयत्न किया, नहीं उठा। आखिर पिता ने कहा–'चलो।'

कन्या बोली–'कैसे चलेंगे? मेरा भाई तो यहां सो रहा है।'

पिता ने कहा–'लगता है तुम्हारा भाई रहा नहीं। इसका जीवन समाप्त हो गया है। अब भाई कहां है? चलो, चलना होगा।'

समझाया तब मंत्र मृत्यु का,
अंतःकरण विदीर्ण हुआ।
अधुना परिहित वस्त्र खंड यह,
हा! अधुना ही जीर्ण हुआ।।

उस समय मोह का भी विकास नहीं हुआ था। एक साधारण संबंध था। जैसे पशु-पक्षी अपने बच्चों को छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही तीनों वहां से चल दिये और उसको वहीं छोड़ दिया। अंत्येष्टि क्रिया जानते ही नहीं थे। सहज भाव से छोड़ देते थे। कन्या अकेली रह गई। माता-पिता ने उसका पोषण किया। कुछ समय तो माता-पिता साथ रहे, एक समय आया–माता-पिता भी चले गये।

थी अंत्येष्टि क्रिया अनजानी,
उनके चरण बढ़े आगे।
जुड़ते और टूटते आए,
संबंधों के ये धागे।।
माता-पिता द्वारा पोषण पा,
बाला वह अब युवती हुई।
बीते दिन विस्मृति भाई की,
चिंतन में कुछ प्रगति हुई।।

इतने में उस महाकाल ने,
अपना पंजा फैलाया।
हुआ अचिंतित अंत युगल का,
अस्थिर बादल की छाया।।

विचित्र घटना हुई–आज तक कोई भी अकेला नहीं रहा, दो रहे। एक नई घटना थी–कन्या का अकेला होना। अकेला रहना बहुत कठिन बात है। हम समाज में जीना जानते हैं, दो में रहना जानते हैं, तीन में रहना जानते हैं किंतु अकेला रहना बहुत बड़ी साधना है। मुनि के लिए एकल साधना का विधान किया गया। जिनकल्पी मुनि अकेला साधना करता है। वह सहज-सरल नहीं है। किसी का सहयोग न लेना, किसी के साथ बात न करना, किसी से कुछ भी मन की बात न कहना–बहुत कठिन है। इसीलिए जो जिनकल्प की साधना को स्वीकार करता है, उसे पहले पांच तुलाओं से तुलना पड़ता है। पांच कसौटियां होती हैं। उन कसौटियों में खरा उतर जाये तब अकेला रहने की साधना होती है। सरल साधना नहीं है अकेला रहना। कोई पहुंचा हुआ व्यक्ति, जिसका ज्ञान विकसित है, जिसका दृष्टिकोण विधायक है, जिसका आचरण पवित्र है, जो अपने में लीन रहना जानता है, जो भीतर में आनंद का अनुभव करता है, वह अकेला रह सकता है। जो व्यक्ति भीतरी आनंद का अनुभव नहीं करता, वह अकेला रह नहीं पाएगा। यदि वह अकेला रहेगा तो पागल बन जायेगा।

पूज्य गुरुदेव दिल्ली में थे। सेना के कुछ वैज्ञानिक आये। बातचीत के मध्य उन्होंने कहा–हमारे सैनिक लेह में 16000 फुट की ऊंचाई पर रहते हैं। परिवार से दूर राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से खड़े हैं। उनमें आत्महत्या की भावना बहुत जागती है। ऊब जाते हैं अकेले बैठे-बैठे, न कोई मनोरंजन, न कोई सहयोग, दिमाग भी सूना सा हो जाता है। उन्होंने निवेदन किया–आप अपने प्रशिक्षकों को वहां भेजें और उन्हें प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करा दें, ताकि अकेलेपन में भी वे आनंद का

अनुभव कर सकें। ध्यान से आनंद का स्रोत फूटता है तो आदमी अकेला रह सकता है। अन्यथा बात करने की मन में आ जाती है। बिना बोले शायद कम ही लोग रह पाते हैं। धर्मानंदजी वहां सोलह हजार फुट की ऊंचाई पर गए। प्रयोग कराए। अकेलेपन की समस्या से जूझ रहे सैनिकों ने कुछ शांति और स्वस्थता का अनुभव किया।

अकेली कन्या क्या करे? कहां जाए? किसके पास रहे? उसका रक्षक और पालक कौन बने? सुख-दुःख में सहायक कौन बने?

हम देखें–दुनिया में कठिनाइयों का इतिहास कहां से शुरू होता है? जैसे-जैसे समाज व्यवस्था की स्थिति निकट आ रही थी, समस्याओं का घेरा शुरू हो गया। वह अकेली कन्या कहां जाये? वह कुछ भी समझ नहीं पा रही थी। उधर से कुछ यौगलिक आये। उन्होंने देखा–कौन है यह? कहां से आयी है? आकर बोले–तुम कौन हो? कहां से आयी हो? अकेली हो? आज तक तो ऐसा किसी को हमने देखा नहीं। कौन हो तुम?'

युगलों ने देखा, आलंबन-
शून्य युवती है मूर्त व्यथा।
युगल जगत के परिवर्तन की,
सघन तमोमय चित्रकथा।।
मिले युगल कुछ, की जिज्ञासा,
कौन कहां से आई हो?
कैसे युगल व्यवस्था में तुम,
एकाकीपन लाई हो?
कायोत्सर्ग किया वाणी ने,
निष्क्रिय-सा स्वरयंत्र हुआ।
कंठ रुद्ध, आंसू का निर्झर,
समाधान का तंत्र हुआ।।

कन्या के भीतर में इतनी वेदना थी, इतना असहाय का भाव था कि आंखों से आंसू छलक पड़े।

यौगलिकों ने आश्वासन दिया–'बेटी! बताओ बात क्या है?'

कन्या ने कहा–'क्या बताऊं? मेरा साथी था, भाई था, वह सो गया। बहुत प्रयत्न किया पर वह उठा नहीं। माता-पिता के स्वर्गवासी होने का समय आ गया, वे स्वर्गवासी हो गये। मैं पीछे अकेली रह गई।'

इस घटना से सबको आश्चर्य हुआ। सबको लगा–अब यौगलिक युग की व्यवस्थाएं बदल रही हैं। यह परिवर्तन की सूचना है, परिवर्तन का संकेत है। ऐसा कभी हुआ नहीं। आज तक ऐसी बात नहीं सुनीं। अब क्या करना चाहिए? कुछ समझदार यौगलिक मिले, कन्या को साथ में लिया। उन्होंने कहा–इसका समाधान और कहीं नहीं होगा। इसे हमारे कुलकर के पास लेकर चलो। कुलकर से ही समाधान पूछना होगा कि अब हम क्या करें? यह अकेली हरिणी जैसी असहाय घूम रही है। अब इसको कौन अपनायेगा? कौन अपने पास रखेगा? सब लोग मिले, मिलकर कल्पना की, चिंतन किया और नाभि के पास पहुंचने का निश्चय किया।

हर व्यक्ति समाधान उचित स्थान पर खोजता है। वस्तुतः समाधान वहीं खोजना चाहिए जहां समाधान का उचित स्थल है। हर किसी से समाधान पाना चाहें तो समाधान नहीं होगा। यदि स्वयं उलझा हुआ है तो वह दूसरों को और उलझा देगा। समाधान हो नहीं सकता।

समाधान के लिए उपयुक्त स्थल, उपयुक्त समय और उपयुक्त व्यक्ति की खोज जरूरी है। तीनों उपयुक्त होते हैं तो समस्या का समाधान होता है। स्थल भी उपयुक्त नहीं, समय भी उपयुक्त नहीं और व्यक्ति भी उपयुक्त नहीं तो समस्या गहरा जाती है।

सबको लगा–इस समस्या का समाधान और कोई नहीं कर पायेगा। केवल कुलकर नाभि, जो हमारे नेता हैं, कर पायेंगे। उन्होंने कन्या को साथ में लिया और नाभि के पास पहुंचे। विकट समस्या के समाधान की आशा बलवती हो गई। यौगलिक युग की इस जटिल समस्या के समाधान की दिशा में चरण-न्यास हो गया। ❑

उपदेश उपदेश नहीं, पथदर्शन है

आचार्य तुलसी

संतों का सान्निध्य सदैव पाना चाहिए। उनकी उपासना करनी चाहिए। उनका निकटता से दर्शन करना चाहिए। कभी यह संभव है कि संत-जन अपने मुंह से कुछ भी उपदेश न दें, कुछ भी मार्गदर्शन न करें, तथापि उनकी उपासना, उनकी सन्निधि व्यक्ति के लिए बहुत ही हितकर है, शुभकर है। सहज प्रश्न हो सकता है कि जब साधु लोग उपदेश ही न दें, पथदर्शन ही न करें, फिर उनकी उपासना, उनके दर्शन की क्या उपादेयता है? क्या उपयोगिता है? आप क्यों मानते हैं कि उपदेश या मार्गदर्शन केवल बोल कर ही दिया जाता है। क्या अपने सद्व्यवहार एवं उच्च आचरण से दूसरों को मार्गदर्शन या उपदेश नहीं दिया जा सकता?

आप ध्यान दें, एक व्यक्ति संतों के सान्निध्य में जाता है। वहां वह देखता है कि साधु लोग परस्पर अत्यंत प्रेम से आलाप-संलाप करते हैं। वे एक-दूसरे की भूल इतने प्रेम से बताते हैं कि गलती करने वाले व्यक्ति को तनिक भी अखरता नहीं, बल्कि उसे अपनी भूल का एहसास होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप वह भविष्य में उस भूल को न दोहराने के लिए कृतसंकल्प होता है। छोटे साधु बड़े साधुओं का कितना विनय करते हैं। बड़े साधु अपने से छोटों के प्रति कितनी आत्मीयता एवं वात्सल्य का व्यवहार करते हैं। साधु-जन एक-एक शब्द विचार कर बोलते हैं। कदम-कदम देख कर चलते हैं। यदि प्रमादवश मार्ग में किसी व्यक्ति को पैर से ठोकर लग जाती है तो वे बिना क्षमा मांगे आगे नहीं बढ़ते।

इस प्रकार की दस-बीस नहीं, अपितु सैकड़ों बातें उसे देखने को मिलती हैं। उनका जीवन-निर्माण की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः जीवन-निर्माण सत्संस्कारों के द्वारा ही होता है और ये संस्कार व्यक्ति को संतों की संगत से सहज रूप से प्राप्त होते हैं। क्या यह मार्गदर्शन नहीं है? क्या यह उपदेश नहीं है? हम गहराई से देखें तो वास्तविक उपदेश और मार्गदर्शन जीवन-व्यवहार एवं आचरण से ही दिया जाता है। शाब्दिक उपदेश या पथदर्शन तो इनके सामने बहुत छोटी बात है। और फिर बहुत सही तो यह है कि शाब्दिक उपदेश तभी असरकारी होता है जब वह उपदेशक के जीवन, व्यवहार एवं आचरण से स्नात होकर बाहर आए अन्यथा वह मात्र वाग्विलोड़न ही रहता है।

कुछ लोग संत-दर्शन के उपदेश का उपहास करते हैं। वे इस उपदेश के पीछे संतों के अहं का दर्शन करते हैं, पर वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। पहली बात तो यह है कि कोई भी साधु-संत व्यक्तिगत अपने दर्शन करने की प्रेरणा नहीं देते। उनका उपदेश तो मात्र संत-दर्शन के संस्कार को सुरक्षित रखने की दृष्टि से होता है। इसके साथ ही दूसरी बात यह भी है कि संतों का दर्शन करने से संतों को कोई लाभ नहीं होता। कोई उनका दर्शन करता है, इससे वे महान नहीं बन जाते। कोई उनके दर्शन नहीं करता, इससे उनकी गरिमा में कहीं कोई न्यूनता नहीं आती। किसी के दर्शन करने या न करने—इन दोनों ही स्थितियों में वे तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। हां, संत-दर्शन के संस्कार से संस्कारित व्यक्ति अवश्य प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से एक बहुत बड़े लाभ को प्राप्त होता है। इसी के समानांतर संतदर्शन के अभाव में व्यक्ति सहजतया प्राप्त होने वाले एक महान लाभ से वंचित हो जाता है। पता नहीं संत-दर्शन या उपासना का कौन-सा क्षण व्यक्ति के जीवन को रूपांतरित कर दे। सौभाग्य से जीवन में कभी-कभी ही ऐसे क्षण उपस्थित होते हैं, जिन क्षणों में व्यक्ति के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन घटित होता है।

मुझे अपने बाल्य-काल की स्मृति हो रही है। उस समय मेरी उम्र लगभग सात-आठ वर्ष की थी। पूज्य गुरुदेव कालूगणी उन दिनों जब कभी लाड़नूं पधारते, वहां के पूरे वातावरण में अध्यात्म की एक नई लहर-सी आ जाती। दिन भर दर्शनार्थियों का तांता-सा लग जाता। मैं भी अपने साथियों के साथ पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ उनके प्रवास-स्थल पर जाता। एक अद्भुत चुंबकीय आकर्षण था उनके आभामंडल में। यद्यपि निकट जाकर उनके चरण-स्पर्श करने की हिम्मत तो मेरी बहुत कम पड़ती थी, पर दूर खड़ा-खड़ा घंटों-घंटों पूज्य गुरुदेव के तेजस्वी मुखमंडल को निहारता रहता। इसके साथ ही मैं उनके सन्निकट रहने वाले छोटे-छोटे बाल साधुओं की चर्या को सूक्ष्मता से देखता रहता। मैं देखता, कोई साधु गुरुदेव के पावन चरण-स्पर्श कर रहा है तो कोई उनको पंचांग वंदन कर रहा है। कोई साधु उन्हें करबद्ध कुछ निवेदन कर रहा है तो कोई उनसे किसी विषय में मार्गदर्शन प्राप्त कर रहा है। इन सब दृश्यों को देखकर मेरे मन में भावना जाग्रत होती कि कितना अच्छा हो, मैं भी एक छोटा-सा साधु बन जाऊं और पूज्य गुरुदेव की पुण्य सन्निधि प्राप्त करूं। कोई माने या न माने, पर यह एक वास्तविकता है कि मेरा दीक्षा स्वीकार करने का सबसे बड़ा कारण पूज्य गुरुदेव एवं साधुचर्या के प्रति आकर्षण ही बना।

संत-दर्शन का एक बड़ा लाभ यह भी है कि व्यक्ति को धार्मिक उपासनाओं की सही-सही जानकारी और प्रेरणा प्राप्त होती है। निस्संदेह धार्मिक उपासना जीवन में आध्यात्मिक जागरण के लिए अत्यंत उपयोगी है। हर व्यक्ति को चाहिए कि वह दिन में अधिक नहीं तो कम-से-कम एक घंटे का समय धार्मिक उपासना के लिए अवश्य सुरक्षित रखे। सामायिक, संवर आदि की साधना से अपनी आत्मा को भावित करे। यथाशक्ति, यथा-अवसर पौषध करे, उपवास करे। उपवास का अर्थ भूखे मरना नहीं, अपितु आत्मा के सन्निकट रहना है। सत्संग, स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन-मनन आदि उसी के विभिन्न अंग हैं। मुझे तो बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसी वैज्ञानिक उपासनाओं से लोग दूर क्यों रहते हैं? क्यों वे सहजतया प्राप्त होने वाले लाभ से वंचित होते हैं? हमारा तो इस अर्थ में कितना बड़ा सौभाग्य है कि हमें जाग्रत धर्म मिला है, जिसमें रूढ़ियों का कोई स्थान नहीं है। ऐसी सुंदर व वैज्ञानिक धार्मिक उपासना-पद्धतियों की उपेक्षा का कोई औचित्य नहीं है। युवा-पीढ़ी में यह उपेक्षा अपेक्षाकृत गहरी है। मैं नहीं समझता कि धार्मिक क्रिया या उपासना करने में युवकों को शर्म या संकोच क्यों महसूस होता है। जब उच्च शिक्षा प्राप्त अधिकारी विद्वान लोग भी बड़ी श्रद्धा के साथ नियमित रूप से अपनी धार्मिक उपासना करते हैं, तब समाज के थोड़े पढ़े-लिखे युवक धार्मिक क्रियाओं के प्रति उदासीनता क्यों रखते हैं?

मैं नमाज पढ़कर आता हूं

मौलाना अब्दुल कलाम आजाद नेहरू मंत्रिमंडल के एक प्रमुख सदस्य थे। वे केंद्रीय शिक्षामंत्री ही नहीं, अपितु राष्ट्र के माने हुए शिक्षाशास्त्री भी थे। एक बार की घटना है। मंत्रिमंडल की आवश्यक बैठक चल रही थी। मौलाना साहब के नमाज पढ़ने का समय हो गया। वे बैठक के बीच से उठे और बोले–'आप बैठक चालू रखें, मैं नमाज पढ़कर आता हूं।' ऐसा कहकर वे तत्काल वहां से चले गए।

इस उदाहरण से युवक लोग समझें कि विद्वत्ता या पढ़ाई-लिखाई के साथ धार्मिक उपासना का कोई विरोध नहीं है। धार्मिक उपासना सबके लिए समान रूप से करणीय है और हर अवस्था में करणीय है। किसी बहाने इसकी उपेक्षा या अवमूल्यन करने का अर्थ है अपने जीवन की उपेक्षा और अवमूल्यन करना।

कहा जा सकता है कि युवा अवस्था तो आमोद-प्रमोद, हंसी-खुशी और जीवन का आनंद लूटने के लिए है। धार्मिक उपासना तो बाद में भी की जा सकती है। यदि इस उम्र में ही व्यक्ति धार्मिक उपासना करने लग जाएगा तो उसकी सारी महत्त्वाकांक्षाएं समाप्त हो जाएंगी। सोचने का व्यक्ति-व्यक्ति का अपना अलग-अलग प्रकार होता है, इसलिए किसी के भी चिंतन पर कोई प्रतिबंध नहीं हो सकता। लेकिन काल पर किसका प्रतिबंध है? क्या यह जरूरी है कि काल बुढ़ापा आने तक व्यक्ति की प्रतीक्षा करता रहेगा?

डॉक्टर ने क्लीनिक के बाहर तख्ती लगा दी, 'दस बजे बाद क्लीनिक बंद हो जाता है।' मरीज उस सूचना को ध्यान में रखकर दस बजे से पहले क्लीनिक पहुंचकर डॉक्टर से मिलते। एक दिन दस बजे के बाद एक मरीज क्लीनिक पहुंचा और उसने डॉक्टर को पुकारा। डॉक्टर अपने चेंबर से बाहर आया और बोला, 'क्या बात है?'

मरीज–'साहब! मुझे कुत्ते ने काट लिया है।'

डॉक्टर–'(जरा झल्लाकर) क्या तुम नहीं जानते कि क्लीनिक का समय दस बजे तक का ही है? दस बजे के बाद मैं मरीजों को नहीं देखता।'

मरीज–'साहब! मैं तो जानता हूं इस बात को, पर कुत्ता नहीं जानता इस प्रतिबंध को। मुझ पर तो यह प्रतिबंध लागू हो सकता है, पर काटने वाले कुत्ते पर यह प्रतिबंध लागू नहीं होता।'

युवक इस बात को समझें कि कुत्ते पर प्रतिबंध नहीं हो सकता। काल पर प्रतिबंध नहीं हो सकता और जब काल पर प्रतिबंध नहीं हो सकता है, तब बुढ़ापे की प्रतीक्षा तक धार्मिक उपासना की उपेक्षा करना कहां तक उचित है?

इस संदर्भ में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। काल की बात मैंने कही, पर काल की विभीषिका खड़ी कर मैं युवापीढ़ी को धार्मिक नहीं बनाना चाहता। मैं तो मात्र वस्तुस्थिति से आपको परिचित कराना चाहता हूं। वस्तुतः भय और प्रलोभन जैसे तत्त्वों से प्रेरित होकर किया गया आचरण धर्म है ही नहीं। धर्म तो अंतर की प्रेरणा है और अंतर की प्रेरणा से ही धर्म होना चाहिए। ऐसा धर्म ही व्यक्ति की सुख-शांति का आधार तथा पवित्रता का साधन होता है। साधु-संत ऐसे धर्म की उपासना के लिए ही अपने जीवन को समर्पित करते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि धर्म की जीवन में कोई अपेक्षा नहीं है। इसी परिप्रेक्ष्य में वे साधु-संतों की उपयोगिता पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हैं। विचार स्वातंत्र्य का युग है, इसलिए हर व्यक्ति अपना स्वतंत्र विचार रख सकता है, पर मैं एक बात कहना चाहता हूं, धार्मिक शिक्षा का महत्त्व चाहे कोई स्वीकार करे या न करे, पर व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर तक स्वस्थ जीवन के लिए नैतिकता के

माहात्म्य को तो स्वीकार करना ही होगा। जब नैतिक मूल्यों के माहात्म्य को जीवन जीने की हर भूमिका में स्वीकार किया जाता है तब धार्मिक मूल्यों की स्वीकृति तो सहज-रूप से ही हो जाती है। हम न भूलें, नैतिकता का मूलभूत आधार धर्म ही है। सत्य, अहिंसा, सह-अस्तित्व, अपरिग्रह आदि धर्म के मौलिक तत्त्वों को भुलाकर नैतिकता-संपन्न समाज या राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिए स्वस्थ-समाज संरचना के लिए धर्म को अनिवार्य अपेक्षा के रूप में स्वीकार करना ही होगा और जब धर्म को एक स्वस्थ समाज संरचना में अनिवार्य अपेक्षा के रूप में स्वीकृति मिलती है तब साधु समाज की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। फिर इसको नकारने का कोई ठोस आधार नहीं रहता, क्योंकि साधु-संत ही धर्म के मूर्तरूप होते हैं। अमूर्त धर्म का उनके जीवन में साक्षात दर्शन किया जा सकता है। उनके जीवन की हर प्रवृत्ति व्यक्ति को धर्म के सुसंस्कार प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में साधु-संतों को हम धर्म का संदेशवाहक भी कह सकते हैं। इनके द्वारा ही समाज की धार्मिकता का सक्रिय शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त होता है। ध्यान रहे, धार्मिक शिक्षण-प्रशिक्षण की इस भित्ति पर ही नैतिक-जीवन का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। इस आधार को सुदृढ़ बनाकर ही व्यक्ति से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक के जीवन को नैतिकता के सांचे में ढाला जा सकता है।

धार्मिक संस्कारों के अभाव में आज नई पीढ़ी की नैतिक आस्थाएं हिल चुकी हैं। आधुनिकता के प्रवाह एवं विकासशीलता के नाम पर उसका खान-पान, रहन-सहन जिस त्वरता के साथ विकृत होता जा रहा है, यह उसकी ही एक परिणति है। समाज का नेतृ-वर्ग एवं अभिभावक-वर्ग इस स्थिति से चिंतित एवं व्यथित है। अपनी इस चिंता एवं व्यथा को वह सार्वजनिक रूप से यदा-कदा अभिव्यक्ति भी देता है। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए मैं उनकी इस चिंता एवं व्यथा को अस्वाभाविक नहीं मानता, क्योंकि इस स्थिति के बहुत दूरगामी परिणाम हैं। यद्यपि नई पीढ़ी में कुछ प्रतिशत लोग आज भी सुसंस्कारित हैं, परंतु जहां अधिक प्रतिशत लोगों का प्रश्न है उनमें संस्कारों का यह खोखलापन स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

इसके बावजूद मैं चिंता करने व व्यथित होने को अनपेक्षित मानता हूं। समाज के नेतृ-वर्ग एवं अभिभावक-वर्ग से कहना चाहता हूं कि वे चिंता एवं व्यथा के स्थान पर समुचित चिंतन एवं व्यवस्था करें। वस्तुतः चिंता करना या व्यथित होना किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। गहराई से देखा जाए तो इससे समस्या समाहित होने की अपेक्षा और अधिक गहराती है। हम ध्यान दें, जीवन एवं समस्या का शाश्वत संबंध है। जहां जीवन है, वहां समस्या भी साथ-साथ चलती है। इस तथ्य को स्वीकार कर हम समस्याओं से घबराएं नहीं, अपितु चिंतन-मनन के द्वारा उनका समुचित समाधान खोजें। आप निश्चित मानें, हमारी समस्याओं को सुलझाने के लिए कोई भगवान नहीं आएगा। हमारी समस्याओं को समाहित करने के लिए हमें स्वयं भगवान बनना होगा। हमें स्वयं ही उनका समाधान खोजना होगा।

मेरा अनुभव है कि मानसिक संतुलन एवं धैर्यपूर्वक चिंतन-मनन के द्वारा विषम-से-विषम समस्या का भी सुंदर-से-सुंदर समाधान निकल सकता है। समाधान मिलने के पश्चात हम उसकी क्रियान्विति की समुचित व्यवस्था करें। इसके अतिरिक्त किसी भी समस्या के समाधान की कोई वैकल्पिक प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती। वर्तमान में नई पीढ़ी के संस्कारों की समस्या को भी हमें इसी परिप्रेक्ष्य में समाहित करना है। साधु-संतों का सान्निध्य साधने एवं धार्मिक उपासना करने की बात मैंने कही। समस्या के समाधान की दिशा में ये दोनों बातें महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं। नैतिक शिक्षा, संस्कार केंद्र, सत्साहित्य का अध्ययन आदि इस यात्रा के अन्य महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक पड़ाव हैं। ❑

तेरापंथ : पहचान की पादवीथियों पर

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

धर्म एक शाश्वत और सार्वभौम तत्त्व है। उसका तेज कभी मंद और कभी प्रखर हो जाता है। समय के कुहासे में धुंधलाए उसके तेज को प्रखर बनाने की प्रक्रिया उसे कालखंडों में बांट देती है। जैनधर्म की दीर्घकालीन परंपरा में चौबीस तीर्थंकर हुए। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर। बाईस तीर्थंकर इनके मध्यवर्ती रहे। वर्तमान में भगवान महावीर का शासन चल रहा है। प्राचीनकाल में इसकी पहचान निर्ग्रंथ श्रमण या निर्ग्रंथ प्रवचन नाम से होती थी। संप्रति यह जैनधर्म या जैनशासन के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी विभाग का यह प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक विवरण है।

भगवान महावीर

भगवान महावीर जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। वि. पू. 542 (ईसा पूर्व 599) बिहार प्रांत के क्षत्रियकुंडपुर में उनका जन्म हुआ। तीस वर्ष की युवावस्था में उन्होंने अपने आपको साधना के लिए समर्पित कर दिया। बारह वर्ष और साढ़े पांच महीने के बाद उनकी साधना फली। साधना के शिखर पर आरूढ़ हो धर्मतीर्थ की स्थापना की। हजारों व्यक्ति उनके धर्मसंघ में दीक्षित हुए। लाखों व्यक्ति उनके अनुयायी बने। लगभग तीस वर्ष तक जनपद विहार कर उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत का मर्म समझाया। वि. पू. 470 (ईसा पूर्व 527) कार्तिक अमावस्या की रात्रि में वे निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

जैन शासन का विस्तार

भगवान महावीर का निर्वाण होने के बाद उनके धर्मसंघ का शासनसूत्र आर्य सुधर्मा ने संभाला। यहां से उत्तरवर्ती आचार्यों की परंपरा का प्रारंभ हुआ। जब तक सक्षम आचार्यों का नेतृत्व रहा, परंपरा का धागा आगे बढ़ता रहा। नेतृत्व की श्लथता के साथ ही वह श्वेतांबर और दिगंबर–इन दो धाराओं में विभक्त हो गया। इस विभाग का मूलभूत आधार रहा–वस्त्र। यद्यपि भगवान महावीर के समय में सचेल और अचेल–दोनों प्रकार के साधु थे। किंतु उनकी परंपरा अलग नहीं थी। सचेलता और अचेलता के आग्रह ने जैन शासन को स्पष्ट रूप से दो भागों में बांट दिया। आगे चलकर कुछ और मतभेद उभरते रहे। उनके कारण दोनों की अवांतर शाखाएं होती चली गईं। दिगंबर परंपरा की शाखाओं में माथुर संघ, द्राविड़ संघ आदि उल्लेखनीय हैं। श्वेतांबर परंपरा में चैत्यवासी और संविग्न आदि शाखाएं बहुचर्चित हैं। इसे जैन शासन का विस्तार या बिखराव कुछ भी कहा जा सकता है।

आचार की शिथिलता

भगवान महावीर के बाद नौ आचार्यों की परंपरा का आचार के विषय में जागरूकता रही। शिथिलता का प्रारंभ आर्य सुहस्ती से माना जाता है। उनके बाद सुविधावादी मनोवृत्ति विकसित होने लगी। इस वृत्ति ने आचार की पवित्रता को दोयम स्थान दे दिया। फिर भी उसे सर्वथा उपेक्षित नहीं होने दिया गया। देवर्धिगणी क्षमा-श्रमण के दिवंगत होने के बाद शिथिलाचार ने

आक्रामक मुद्रा धारण कर ली। विद्या-बल और राज्य-बल के सहारे प्रखर आचार के पक्षधरों को दबा दिया गया। स्वच्छंदता और सुविधावाद के वाहनों पर सवार होकर श्रमणसंघ कहां से कहां तक पहुंच गया, यह एक धूमिल अध्याय है। विक्रम की पांचवीं शताब्दी का उत्तरवर्ती कालखंड आचार के हिमालय से अवरोहण की कहानी है।

जैनशासन का अंतिम संप्रदाय

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने फिर से आचार की विशुद्धि के लिए शंखनाद किया। उन्होंने मूर्तिपूजा को अमान्य किया और व्यर्थ के क्रियाकांडों पर भी कुठाराघात किया। उनके आंदोलन से प्रभावित हो एक साथ पैंतालीस व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की। उनका गच्छ लोंकागच्छ नाम से प्रसिद्ध हुआ। पर संघीय व्यवस्था पक्ष पुष्ट न होने से थोड़े समय में ही उसकी अनेक शाखाएं हो गईं।

लोंकाशाह के अनुयायियों में लवजी मुनि ने वि. सं. 1709 में ढूंढिया संप्रदाय का उद्‌भव किया। कालांतर में इस संप्रदाय के साधु बाईस शाखाओं में विभक्त हो गए। इस कारण उनकी पहचान बाईस टोला नाम से होने लगी। आगे चलकर इस संप्रदाय के साधु स्थानकों में रहने लगे तो यह स्थानकवासी नाम से प्रसिद्ध हो गया। स्थानकवासी संप्रदाय से तेरापंथ संप्रदाय का उद्‌भव हुआ। जैन धर्म के इतिहास में तेरापंथ को अंतिम संप्रदाय कहा जा सकता है।

धर्मक्रांति के पथ पर

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य रुघनाथजी के पास दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनकी अवस्था पचीस वर्ष की थी। दीक्षित होने के बाद उन्होंने जैन आगमों का गंभीर अध्ययन किया। जिनवाणी पर उनकी प्रगाढ़ आस्था थी। उन्होंने समकालीन साधु-संस्थाओं के साथ-साथ अपने संप्रदाय के साध्वाचार को आगमों की कसौटी पर परखा। वैचारिक अवधारणाओं में जिनवाणी की संवादिता को खोजा। विचार और आचार–दोनों ही उनके मूल्यांकन पर खरे नहीं उतरे। उन्होंने अपने गुरु का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

गुरु के कृपापात्र शिष्य होने पर भी उनको संतोषजनक समाधान नहीं मिला। उनका असमाहित चित्त और जिज्ञासु मन उन्हें बार-बार गुरु के पास ले गया। जब तक समाधान की आशा थी, वे प्रतीक्षा करते रहे। जब समाधान के सभी दरवाजे बंद हो गए, उन्होंने धर्मक्रांति का झंडा हाथ में ले लिया। वि. सं. 1817, चैत्र शुक्ला नवमी के दिन बगड़ीनगर (पाली) में वे गुरु रुघनाथजी से संबंध-विच्छेद कर अलग हो गए।

प्रथम पड़ाव

गुरु से संबंध-विच्छेद के साथ ही आचार्य भिक्षु के पथ में आपदाएं बिछ गईं। पूरे शहर में ठहरने के लिए उन्हें स्थान नहीं मिला। वे शहर छोड़कर जाने के लिए उद्यत हुए तो तेज आंधी ने उनका रास्ता रोक लिया। एक ओर स्थान नहीं, दूसरी ओर गति नहीं। उस दुविधा के समय उन्होंने श्मशान को आवास के लिए चुना। अभिनिष्क्रमण के बाद उनकी पहली रात ठाकुर जैतसिंहजी की छतरी में बीती। अब तो उस छतरी ने विशाल स्मारक का रूप ले लिया है।

आचार्य भिक्षु ने संप्रदाय छोड़ा, उस समय उनके साथ चार साधु और थे। वे सब बगड़ीनगर से प्रस्थान कर जोधपुर पहुंचे। तब आठ और साधु उनके सहभागी बन गए। जोधपुर में भी स्थान की समस्या थी। वह समस्या थोड़े से पुरुषार्थ से सुलझ गई। बाजार में कुछ खाली दुकानें उनको उपलब्ध हो गईं। वे ठहर गए। वहां जनसंपर्क बढ़ा। कुछ लोगों को उनके विचारों में सत्यता का अनुभव हुआ। वे उनके अनुयायी बन गए। आचार्य भिक्षु वहां से प्रस्थान कर आगे चले गए।

नामकरण

आचार्य भिक्षु द्वारा जोधपुर छोड़ देने पर भी उनके अनुयायी बाजार की दुकानों में धर्मोपासना करते

रहे। एक दिन जोधपुर राज्य के महामंत्री (दीवान) फतेहमलजी सिंघी उधर आए। उन्होंने श्रावकों को दुकान में सामायिक करते हुए देखा। स्थानक छोड़कर वहां सामायिक करने का कारण उनकी समझ में नहीं आया। उन्होंने पूछताछ की। श्रावक गेरूलालजी व्यास ने विस्तार से सारी बात बतलाई। सिंघीजी ने पूछा–'इस समय कितने साधु हैं और उनको समर्थन देने वाले कितने श्रावक हैं?' श्रावकों ने कहा–'साधुओं की संख्या तेरह है और इस समय उपासना करने वाले श्रावक भी तेरह ही हैं।' तेरह श्रावक और तेरह साधु–इस संख्या के साम्य ने सिंघीजी को प्रभावित किया। सिंघीजी के साथ ही वहां एक सेवग जाति का कवि खड़ा था। उसने सारी बात ध्यान से सुनी और कहा–

साध साध रो गिला करै, ते आप आप रो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोगां, ए तेरापंथी तंत।।

आचार्य भिक्षु के विरोधी लोगों को उपहास करने का मौका मिल गया। अल्पसंख्या को आधार बना वे आचार्य भिक्षु के अनुयायियों को तेरापंथी कह कर मखौल उड़ाने लगे। हिंदी का तेरह शब्द राजस्थानी में तेरा हो जाता है। आचार्य भिक्षु किसी नए संघ को चलाने के लिए अपने संप्रदाय से मुक्त नहीं हुए थे। इसलिए उन्होंने किसी संघ के नाम और व्यवस्था के बारे में कुछ सोचा ही नहीं था। किंतु लोगों की जुबान पर चढ़े शब्द को विशेष अर्थ देने के लिए उन्होंने जिस समय नामकरण का घटना-प्रसंग सुना, उसी समय आसन छोड़ वंदना की मुद्रा में बैठ भगवान महावीर को नमस्कार करते हुए कहा–

'हे प्रभो! यह तेरापंथ। यह पंथ प्रभु का है। हम इस पंथ का अनुगमन करेंगे और अपनी मंजिल तक पहुंचेंगे।' तेरापंथी साधु-साध्वियों के लिए पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति–इन तेरह नियमों का पालन करना अनिवार्य है।

प्रथम विजय

किसी भी धर्मसंप्रदाय की तेजस्विता के चार बिंदु हैं–लक्ष्य के प्रति प्रगाढ़ आस्था, आचार की निर्मलता, विचारों की दृढ़ता और अभिव्यक्ति की क्षमता। आचार्य भिक्षु अपने लक्ष्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। आचार की निर्मलता उनकी धर्मक्रांति का मूलभूत आधार था। उनकी वैचारिक दृढ़ता का प्रमाण है–प्रलोभन और विरोध की आंधियों के बीच उनके चित्त की अकंपता। अभिव्यक्ति की क्षमता का दर्शन उनके जीवन में पग-पग पर होता है। तेजस की आराधना का संकल्प लेकर उन्होंने नया पथ चुना। मरुधर की धरती पर अपने पदचिह्न अंकित करते हुए वे आगे बढ़े। अरावली की घाटियों को पारकर उन्होंने मेवाड़ में प्रवेश पा लिया।

चतुर्मास का समय निकट था। आचार्य भिक्षु ने चतुर्मास के लिए केलवा नामक ग्राम को चुना। केलवा में वे आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को पहुंचे। उनके पहुंचने से पहले ही विरोधी स्वर वहां पहुंच चुके थे। स्थानीय लोग भ्रांत हो गए। उन्होंने उनको स्थान न देने का निर्णय ले लिया। आचार्य भिक्षु अपने सहयोगी साधुओं के साथ गांव में घूमे। उन्हें स्थान नहीं मिला। बहुत परिश्रम और पूछताछ करने पर स्थानीय जैन मंदिर की एक अंधेरी कोठरी उन्हें उपलब्ध हो गई।

वह अंधेरी कोठरी अंधेरी ओरी के नाम से प्रसिद्ध थी। अनुश्रुति यह थी कि यहां रात्रि के समय रहने वाला प्रातःकाल तक जीवित नहीं रह पाता। किसी दुरभिसंधि से प्रेरित लोगों ने आचार्य भिक्षु को चातुर्मासिक प्रवास के लिए वह स्थान बतलाया। वे सहजभाव से वहां ठहर गए। रात्रि में सर्प का उपसर्ग हुआ। आचार्य भिक्षु ने नमस्कार महामंत्र का उच्चारण कर उसे दूर किया। आधी रात के बाद एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ। उसने अपने देव होने की अवगति दी। उसका यह अनुरोध रहा कि वे स्थान में प्रसन्नता से चातुर्मासिक प्रवास करें।

तेरापंथ के उद्भव का दिन

'थावर कीजे थरपना, बुध कीजे व्यापार'–इस कहावत का अन्यत्र कहीं उपयोग हुआ या नहीं, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। पर तेरापंथ धर्मसंघ की

स्थापना में सहज रूप से शनिवार का योग मिल गया। तेरापंथ की स्थापना कब हुई? इस प्रश्न पर विमर्श करते समय चार बिंदु सामने आते हैं–

- जिस दिन बगड़ीनगर में आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी संप्रदाय से अपना संबंध-विच्छेद किया।
- जिस दिन जोधपुर में आचार्य भिक्षु की धर्मक्रांति को 'तेरापंथ' नाम दिया गया।
- जिस दिन बिलाड़ा या उसके समीपवर्ती किसी क्षेत्र में आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ शब्द की नई व्याख्या की।
- जिस दिन केलवा की अंधेरी ओरी में आचार्य भिक्षु ने भाव संयम (नई दीक्षा) स्वीकार किया।

तेरापंथ के इतिहास में उसकी स्थापना का मान्य समय विक्रम संवत 1817 आषाढ़ी पूर्णिमा (ईसवी सन् 1760, 28 जून) है। उस दिन शनिवार था। यह समय सही है, क्योंकि प्रथम दिन की घटनाओं के समय तक आचार्य भिक्षु ने भाव दीक्षा स्वीकार नहीं की थी। उन्होंने केलवा की अंधेरी ओरी में आषाढ़ी पूर्णिमा को संध्या के समय लगभग साढ़े सात बजे नई दीक्षा स्वीकार की। इसके साथ ही तेरापंथ की स्थापना हो गई। अनुश्रुति है कि उस दिन आचार्य भिक्षु के तीन दिन की तपस्या थी। उनकी तपस्या और साधना के तेज से ही तेरापंथ की तेजस्विता बढ़ी।

महावीर की परंपरा का संवाहक

तेरापंथ अस्तित्व में आया तब तक भगवान महावीर की परंपरा में सैकड़ों आचार्य हो चुके थे। लगभग ढाई हजार वर्षों की उस अवधि में जैनदर्शन के मौलिक सिद्धांत–अनेकांत, स्याद्वाद, कर्मवाद आदि की अवधारणाओं में कोई विशेष मतभेद नहीं उभरा था। सभी आचार्य इन सिद्धांतों पर बल देते थे। मतभेद के मुख्य बिंदु थे–सचेलता, मूर्तिपूजा, सुविधावाद आदि। इनके कारण जैन शासन अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया। तेरापंथ उसकी नवीनतम शाखा थी, जिसका नेतृत्व आचार्य भिक्षु कर रहे थे।

आचार्य भिक्षु के चिंतन का आधार था जिन वाणी। दिगंबर परंपरा के अनुसार उस समय तक जिन वाणी का लोप हो चुका था। श्वेतांबर परंपरा उपलब्ध आगमों को आचार्य सुधर्मा द्वारा संकलित द्वादशांगी के साथ जोड़ती है। उन आगमों के आधार पर उन्होंने सवस्त्र साधना का पथ स्वीकार किया। मूर्तिपूजा में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने मंदिर और मूर्ति का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया, पर मूर्ति की पूजा को अध्यात्म धर्म की मान्यता नहीं दी।

साधु-संस्थाओं में परिव्याप्त सुविधावाद या आचार विषयक शिथिलता आचार्य भिक्षु की धर्मक्रांति में मूलभूत प्रेरणा थी। कलयुग में साध्वाचार का परिपूर्ण पालन संभव नहीं है, इस अवधारणा को तोड़कर वे महावीर युग के आचार का पालन करने के लिए संकल्पित थे। उन्होंने जो संकल्प किया, उसे निभाया। इस दृष्टि से उनको आचार का पुनरुद्धारक कहा जा सकता है। आचार्य भिक्षु के उत्तरवर्ती आचार्यों में आठवें आचार्यश्री कालूगणी से मिलकर और उनके धर्मसंघ को देखकर जर्मनी के विद्वान जेकोबी ने कहा–'मेरी भारत यात्रा की अनेक उपलब्धियों में एक उपलब्धि है भगवान महावीर के युग में जैसे साधु थे, वैसे साधुओं का साक्षात्कार।' आज तो तेरापंथ के प्रति जनभावना इतनी अनुकूल हो गई है कि उसे जैनधर्म की पहचान या जैनधर्म का पर्याय माना जा रहा है।

धर्म की कसौटियां

उस समय किसी व्यक्ति या समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति को धर्म का नाम देकर धर्म के शुद्ध स्वरूप में विकृतियां घोली जा रही थीं। आचार्य भिक्षु ने उनका प्रतिवाद करते हुए धर्म की कुछ नई कसौटियां स्थापित कीं। उन्होंने कहा–

- अहिंसा धर्म है, हिंसा धर्म नहीं है।
- संयम धर्म है, असंयम धर्म नहीं है।
- जिन आज्ञा में धर्म है, आज्ञा से बाहर धर्म नहीं है।
- अनमोल धर्म है, मूल्य से जो खरीदा जाता है, वह धर्म नहीं है।

धर्म को परिभाषित करने के लिए इस समग्र विस्तार को एक वाक्य में अभिव्यक्ति दी जाए तो कहा जा सकता है–राग-द्वेष-मुक्त प्रवृत्ति धर्म है और राग-द्वेष-युक्त कोई प्रवृत्ति धर्म नहीं है।

आचार्य भिक्षु के सामने धर्म को इस रूप में व्याख्यायित करने की अपेक्षा क्यों हुई। इस प्रश्न के समाधान में इतना ही कहना पर्याप्त है कि लोकधर्म और मोक्षधर्म–इन दोनों को एक कर देने से धर्म के प्रति सही स्वरूप को समझने में कठिनाई उपस्थित हो रही थी। समाज की आवश्यकता और उपयोगिता के लिए किए जाने वाले कार्यों पर धर्म का मुलम्मा चढ़ा देने से बहुत लोग भ्रांत हो रहे थे। उनकी भ्रांति को तोड़ने के लिए आचार्य भिक्षु ने कहा–

लौकिक व्यवस्थाओं और सामाजिक अपेक्षाओं को अध्यात्म धर्म के साथ जोड़ने का कोई औचित्य नहीं है। विवाह करना, संतान उत्पन्न करना, उसका पालन करना, उसे पढ़ाना, उसकी शादी करना–ये सब पारिवारिक व्यवस्थाएं हैं। धर्मशाला बनवाना, हास्पिटल बनवाना, विद्यालय बनवाना, अभावग्रस्त व्यक्ति की सहायता करना, भूखे को भोजन खिलाना, प्यासे को पानी पिलाना आदि कार्य सामाजिकता से जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार पुलिस, सेना आदि के कर्तव्य राष्ट्र से जुड़े हुए हैं। सामाजिक व्यक्ति के लिए ये सब आवश्यक हैं। पर आवश्यक होने मात्र से ये धर्म नहीं हो सकते। धर्म शब्द से ही मोह हो तो इनको लौकिक धर्म में परिगणित किया जा सकता है। किंतु लोकोत्तर या अध्यात्म धर्म के साथ इनका सीधा संबंध नहीं हैं।

सार्वभौम धर्म की घोषणा

तेरापंथ जैन धर्म का नया संस्करण है। आचार्य भिक्षु जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखते थे। पर वे इसे किसी जाति या वर्ग की सीमा में बांधकर रखना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा–'भगवान महावीर का मार्ग राजमार्ग है। इस पर चलने का अधिकार सबको है। अमुक व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है और अमुक व्यक्ति नहीं कर सकता, ऐसी कोई भेदरेखा यहां नहीं है।' मिथ्यादृष्टि की निरवद्य प्रवृत्ति को धर्म मानकर उन्होंने जैन धर्म के उदार दृष्टिकोण को उजागर कर दिया। अमुक संप्रदाय का अनुयायी बनकर ही व्यक्ति धर्म कर सकता है, इस एकांतवादी धारणा का निरसन कर उन्होंने हर व्यक्ति को धार्मिक बनाने का आमंत्रण दिया।

तेरापंथ की मान्यता के अनुसार धर्म और संप्रदाय एक नहीं है। तुम मेरी शरण में आ जाओ, मेरे संप्रदाय के अनुयायी बन जाओ, मैं तुम्हारा कल्याण कर दूंगा–आचार्य भिक्षु ने ऐसी गर्वोक्ति कभी नहीं की। उन्होंने कहा–'ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना होती है तो व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वेश, संप्रदाय, लिंग, रंग और जाति मोक्ष की प्राप्ति में बाधक नहीं हैं। उनकी इस घोषणा का तीव्र विरोध हुआ। किंतु वे सत्य मार्ग से विचलित नहीं हुए।

अनुशासन और मर्यादा

आचार्य भिक्षु ने आचार के क्षेत्र में व्यापक सुधार किया, विचार के क्षेत्र में कुछ नई स्थापनाएं कीं और अनुशासन के क्षेत्र में सर्वथा मौलिक चिंतन दिया। भगवान महावीर के धर्मशासन में चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियां दीक्षित हुईं। उनकी साधना अपने-अपने आचार्यों के नेतृत्व में चलती थी। भगवान महावीर के बाद ढाई हजार वर्षों की अवधि में अनेक प्रभावशाली आचार्य हुए। पर उन्होंने अनुशासन या संगठन की दृष्टि से कोई नया काम नहीं किया। परंपरा से संगठन के जो सूत्र उन्हें उपलब्ध हुए, उनके आधार पर संघ की व्यवस्था होती थी।

आचार्य भिक्षु जाग्रत प्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने समकालीन साधु-संघों की गतिविधियों का अध्ययन किया। उनमें स्वच्छंदता, शिथिलता और अव्यवस्था की जड़ें गहरी होती दिखाई दीं। उन्होंने वर्तमान की पृष्ठभूमि पर निर्मित होने वाले भविष्य पर दृष्टि टिकाई। उनकी पारदर्शी दृष्टि में भविष्य का चित्र बहुत सुंदर नहीं था। उन्होंने चिंतन किया और एक अनुशासित, मर्यादित एवं

सुव्यवस्थित संगठन का सपना देखा। जितना बड़ा सपना, उतना अधिक पुरुषार्थ–इस धारणा के आधार पर उन्होंने जीवन भर पुरुषार्थ किया और एक अनुशासित धर्मसंघ के फलते-फूलते पौधे को देख लिया।

धर्मसंघ में अनुशासन को प्रभावी बनाने के लिए आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का निर्माण किया। जब-जब उनके सामने विशेष प्रसंग उपस्थित हुआ, उन्होंने नई मर्यादा बना दी। उन मर्यादाओं में कुछ मर्यादाओं का मूल्य अधिक था। पर कुछ ऐसी मौलिक मर्यादाएं हैं, जिनकी प्रासंगिकता सदा बनी हुई है। भविष्य में भी उनके सामने कोई प्रश्नचिह्न उपस्थित हो, ऐसा नहीं लगता। उनमें से कुछ मर्यादाएं निम्नलिखित हैं–

- सब साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
- विहार-चतुर्मास आचार्य की आज्ञा में करें।
- अपना-अपना शिष्य-शिष्याएं न बनाएं।
- आचार्य योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करे। दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दे।
- आचार्य किसी को अपना उत्तराधिकारी चुने तो सब साध्वियां सहर्ष स्वीकार करे।
- श्रद्धा या आचार के बोल को लेकर गण में भेद न डाले। दलबंदी न करे। आचार्य व बहुश्रुत साधु कहे, वह मान ले अथवा केवली गम्य कर दे।
- गण में शुद्ध साधुपन सरधे, वह गण में रहे। किंतु छल-कपट पूर्वक गण में न रहे।

इस प्रकार की और भी अनेक मर्यादाएं हैं, जिनकी त्रैकालिक उपयोगिता के बारे में आज तक कोई प्रश्न नहीं उठा।

तेरापंथ कब तक चलेगा?

व्यक्तिगत स्तर पर आत्म-साधना के उद्देश्य से बोया हुआ तेरापंथ का बीज इतने विशाल वटवृक्ष का रूप ले लेगा, यह किसने सोचा था। आचार्य भिक्षु को संघ बनने और उसके चलने की भी कल्पना नहीं थी। उनके कुछ चिंतन-कण इस सचाई को उजागर करते हैं–'हम यह नहीं जानते थे कि इस प्रकार संघ बनेगा, इस प्रकार दीक्षाएं होंगी और इस प्रकार लोग समझेंगे। हमने तो सोचा था कि तपस्या आदि के द्वारा जीवन को पूरा करना और आत्मा का हित साधना है।' उस समय की थोड़ी सी सफलता से आचार्य भिक्षु को नई स्फूर्ति मिली। उनमें काम करने का नया उत्साह जागा। वही स्फूर्ति और उत्साह तेरापंथ के उत्तरवर्ती आचार्यों में संक्रांत होता रहा है। इसीलिए यह विकास के पथ पर गतिमान है।

तेरापंथ धर्मसंघ कब तक चलेगा? आचार्य भिक्षु के सामने यह प्रश्न आया। उन्होंने कहा–'जब तक इस संघ के साधु-साध्वियां नीतिमान रहेंगे और मर्यादा में चलेंगे।' नीति और मर्यादा के प्रति यह आस्था ही तेरापंथ की दीर्घजीविता का रहस्य है। अन्यथा उस उगते हुए बिरवे को उखाड़ने के लिए जितने प्रयास हुए उनके बीच किसी बद्धमूल संप्रदाय का अस्तित्व भी खतरे में हो सकता है। तेरापंथ की नीतिनिष्ठा और मर्यादानिष्ठा से नीति और अनुशासन की सीख पाकर कोई भी धर्म-संप्रदाय ऊंचाइयों के शिखर को छू सकता है। ❐

ओ क्षणभंगुर भव! राम-राम।

टिकता कभी न ओस बिंदु औ पत्ता भी पीला पड़ता है।
नश्वर जग का यही सत्य, यहां कौन नहीं मरता, मिटता है।।

कहा जाता है कि जैसे नदी का वेग, बादल की छाया और जुआरी की माया सब अस्थिर है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी नाशमान है। जगत में कोई पदार्थ और प्राणी, ऐसा नहीं जो मरणधर्मा न हो। जो जनमता है वह मरता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख का क्रम चलता रहता है। लगता है इसी बदलते जीवन के विविध चेहरों को देखकर कवि हृदय ने गाया है–ओ क्षण भंगुर भव! राम-राम।

क्षणभंगुरता का बोध पाठ जो व्यक्ति समझ लेता है वह जीवन में दुःख को भी सुख में बदल लेता है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के क्षणों में भी स्वयं को संतुलित, संयमित रख लेता है। लाभ में गर्व और हानि में विलाप नहीं करता। अनुकूल-प्रतिकूल परिवेश और परिस्थिति में भी विधायक जीवनशैली से जी लेता है।

'मनुष्य जीवन क्षणभंगुर है'–इस विषय पर धर्म-ग्रंथों में विशद व्याख्या मिलती है। इसी शाश्वत सत्य को समझने के लिए आचार्य भिक्षु ने भी वैराग्य-बोध के जागरण में लिखा है–

'मानव जीवन मंदिर की ध्वजा के समान चंचल है', 'आतिशबाजी के तमाशे की तरह क्षणिक है', 'जल में बताशे की तरह शीघ्र विनाशशील है', 'नदी के वेग की तरह अनित्य है', 'बादलों की छाया की तरह अचिर है', 'जुए की कमाई की तरह थोथी माया है,' कापुरुष के वचन की तरह अस्थिर है,' 'अबिनीत को दी हुई शिक्षा के सदृश अतिरंजन है,' फूस के ताप की तरह क्षणस्थाई है,' 'ग्रीष्म ऋतु की वर्षा की तरह शीघ्र विलीन होने वाला है,' 'कन्या रूपी धन की तरह चलायमान' और 'सांझ की तरह अस्थिर है।'

आगमिक उपमाओं के साथ-साथ हृदयग्राही मौलिक उपमाओं को देते हुए कहा गया है–

'मनुष्य भव दुर्लभ है। वह बार-बार नहीं मिलता। उसे प्राप्त होने में अनंत काल लग जाता है। जो जनम लेता है, उसका नाश अवश्यंभावी है। अतः प्रमाद का परिहार करो, मन में वैराग्य और संवेग को स्थान दो।

प्रच्छन्न रोग है, प्रकट भोग
संयोग मात्र भावी वियोग
हा लोभ-मोह में लीन लोग
भूले अपना अपरिणाम।
ओ क्षणभंगुर भव! राम-राम।।

यह आर्द्र-शुष्क, यह उष्ण शीत,
यह वर्तमान, यह तू प्रतीत।
तेरा भविष्य क्या मृत्यु-भीत?
पाया क्या तुने धूम-धाम?
ओ क्षणभंगुर भव! राम-राम।।

यह धन तम सन सन पवन-जाल,
भन भन करता यह काल-व्याल,
मूर्च्छित विषाक्त वसुधा विशाल।
भय, कह, किस पर यह भूरिभाम?
ओ क्षणभंगुर भव! राम-राम।।

–मैथिलीशरण गुप्त

भगवान ने विषयों को तालपुट विष की उपमा दी है। उन्हें किंपाक फल कहा है, जो खाने में मधुर और परिणाम में घातक विष की तरह होते हैं।

पौद्गलिक सुखों के संदर्भ में ज्ञातव्य है कि जैसे खुजली के रोगों को खाज करना सुखकर लगता है, उसी तरह वैषयिक-सुख आत्म-विकार के कारण ही मीठे लगते हैं। जहर चढ़ने पर नीम भी मीठा लगने लगता है, उसी तरह कर्म रोग से पीड़ित होने के कारण ही जीव को पौद्गलिक सुख मधुर लगते हैं। जैसे खुजलाने से खुजली का रोग नहीं मिटता, उसी तरह काम भोगों के सेवन से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। इन पौद्गलिक सुखों को पाकर जो आह्लादित होता है, उसके पाप-कर्म का संचय होता है। अंततः नर्क निगोदादि के दुःख झेलने पड़ते हैं। आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं। वे बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। वे ही वास्तव में काम्य हैं। पौद्गलिक सुख तो रोगजन्य सुख हैं।'

'जीवन क्षणभंगुर है। जब आयुष्य शेष होने लगता है, तब कोई प्राण दाता नहीं होता। संसार जन्म-मरण की भट्टी में झुलस रहा है। यही सबसे बड़ी व्याधि है। संसार में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही सार है। यदि मोक्ष की अभिलाषा है तो इनकी आराधना कर कर्मों को क्षीण करो।'

जीवन के प्रति जागरूकता बहुत जरूरी है, क्योंकि सपने को सच मान लेने का भ्रम हम ज्यादा जीते हैं, इसीलिए यथार्थता से सामना कर पाने में हम कहीं न कहीं कमजोर पड़ जाते हैं। नश्वरता का बोध हमें सचाई से जीने का तथा **सयमं गोयम! मा पमाइए** का बोध देता है। सच को समझना और उसे जीना जीवन का मुख्य ध्येय बने और हर सुबह-शाम हमारी चेतना में आगम सुक्त मुखरित रहे–**खणं जाणाहि पंडिए।** हम समय का अंकन करें। समय, श्रम और शक्ति का सही नियोजन करें। ❐

कौन करता है कल का भरोसा

आचार्य तुलसी

जीवन के दो छोर हैं–जन्म और मृत्यु। जो जन्म लेता है, उसकी मौत अवश्यंभावी है। मौत के दो प्रकार हैं–सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम का अर्थ है–उपक्रम यानी निमित्त से होने वाली मौत । निमित्तों के द्वारा आयुष्य कर्म की उदीरणा होती है और प्राणी असमय में चला जाता है। निरुपक्रम आयुष्य वाले प्राणियों को मृत्यु के निमित्त नहीं मिलते, यह बात नहीं है, पर उनकी मौत उन निमित्तों से नहीं होती। निमित्तों के कारण होने वाली मृत्यु को अकाल मृत्यु भी कहा जाता है। प्राचीन काल में अकाल मृत्यु की संभावना कम रहती थी। आज की परिस्थितियों में मृत्यु का भय बराबर बना रहता है। खाने का असंयम मृत्यु को सीधा आमंत्रण है। नशा करने से आयुष्य कम होता है। तनाव प्राणशक्ति को क्षीण करता है। दुर्घटनाओं का तो कोई छोर ही दिखाई नहीं देता। **णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि**–मौत आने के अनेक रास्ते हैं। वह प्राणी को कहीं भी दबोच लेती है। पूरा आयुष्य जीने वाले लोग कम होते हैं। जो जीते हैं, वे भी उसके नाम से आशंकित रहते हैं।

मौत की सघन संभावनाओं के बीच कोई भी प्राणी निश्चिंत नहीं रह सकता। मौत से निश्चिंत कौन हो सकता है? इस संदर्भ में शास्त्रकार कहते हैं–

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया।।

–जिसकी मौत के साथ मैत्री हो, जो मौत के आने पर भागने की क्षमता रखता हो और जिसको यह पक्का विश्वास हो कि वह मरेगा नहीं, ऐसा कौन सोच सकता है कि मैं अमुक काम कल कर लूंगा अन्यथा एक क्षण के लिए भी मौत का भरोसा नहीं किया जा सकता।

मौत पर विजय का उत्सव

धर्मराज युधिष्ठिर अपनी मंत्रिपरिषद के साथ विचार-विमर्श कर रहा था। उस समय एक याचक वहां आया। उसने याचना की। युधिष्ठिर बोला–आज मैं बहुत व्यस्त हूं। तुम कल आना। कल मैं तुम्हारी इच्छा की पूर्ति कर दूंगा। याचक लौट गया। युधिष्ठिर का छोटा भाई भीम वहीं बैठा था। वह उठा, उसने नगाड़े बजवाए और उत्सव की घोषणा कर दी।

युधिष्ठिर ने घोषणा सुनी। उसने पूछा—नगाड़े क्यों बज रहे हैं? राजपुरुष ने निवेदन किया—कल एक बड़े उत्सव का आयोजन किया जाएगा।

कौन-सा उत्सव? कैसा उत्सव? उत्सव की घोषणा किसके आदेश से हुई? युधिष्ठिर के इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए राजपुरुष ने कहा—महाराज उत्सव क्यों होगा और कैसे होगा यह हम नहीं जानते। आपके अनुज भीम के आदेश से यह घोषणा हुई है।

युधिष्ठिर ने भीम को बुलाया और पूछा—यह किस उत्सव की सूचना है? भीम बोला—'भैया! आपने काल पर विजय प्राप्त कर ली, यह क्या कम उत्सव की बात है?' युधिष्ठिर कुछ समझा नहीं। उसने स्पष्टीकरण मांगा। भीम बोला—यह बात प्रसिद्ध है कि धर्मराज युधिष्ठिर कभी झूठ नहीं बोलते। आपने उस याचक से कहा कि आप उसकी आवश्यकता की पूर्ति कल करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि आप कल तक निश्चित रूप से जीवित रहेंगे।

भीम के इस तर्क ने युधिष्ठिर को अपनी भूल का अहसास करा दिया। उसने अविलंब याचक को अपने पास बुलाया और उसे यथेष्ठ संपदा देकर विदा किया।

खजाना साथ कैसे जाएगा

जीवन शाश्वत नहीं है, इस बात को मनुष्य जानता है। वह यह भी जानता है कि मौत के बाद कुछ भी साथ नहीं जाता। मनुष्य का सुकृत या दुष्कृत ही उसके साथ जाता है। धन, वैभव, परिवार सब यहीं छूट जाता है। फिर भी मनुष्य संग्रह करता है, आसक्त रहता है, यह उसका अज्ञान है। संतों का सान्निध्य प्राप्त हो तो अज्ञान दूर हो सकता है।

गुरु नानक एक रईस व्यक्ति के घर में ठहरे। उन्होंने देखा, रईस के पास धन की कमी नहीं है। फिर भी वह अधिक धन बटोरने में संलग्न है। उसको सीख देने के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा। रईस व्यक्ति उनके पास आया। वे बोले—'तुम मेरा एक काम कर सकते हो क्या?' रईस बोला—'मुझे आपका काम करने में प्रसन्नता होगी। आदेश दें, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं?'

गुरु नानक ने धागे सहित एक सूई निकाली। उस रईस व्यक्ति को सौंपते हुए कहा-'मेरी यह सूई अपने पास रख लो। जब मैं देह त्याग करूं तो इसे अगले जन्म में मेरे पास पहुंचा देना।' रईस व्यक्ति यह बात सुन आश्चर्य से नानक की ओर देखने लगा। नानक आगे कुछ नहीं बोले। उसने कहा—'सूई अगले जन्म में आपके साथ कैसे जा सकती है?' नानक बोले—'मेरी यह छोटी सी सूई नहीं जा सकती तो तुम्हारा इतना बड़ा खजाना कैसे जाएगा?' रईस व्यक्ति को बोध मिल गया।

मृत्यु का दर्शन बचाता है अपराध से

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—पाप से डरने वाले और निर्भय होकर पाप करने वाले। जिन व्यक्तियों के मन में पाप का भय रहता है, वे अनर्थ हिंसा से बचने का प्रयास करते हैं। जो लोग इस बात को नहीं समझते कि पाप पापी का अनुगमन करता है, मृत्यु के बाद भी वह फल दिए बिना पीछा नहीं छोड़ता, वे निःसंकोच पाप कर्मों का संचय करते रहते हैं।

आतंकवाद या उग्रवाद की समस्या बहुत जटिल है। यह किसी एक देश की समस्या नहीं है। पूरे विश्व पर इसका प्रभाव है। हत्या, अपहरण और लाखों-करोड़ों रुपये वसूलने की जो वारदातें हो रही हैं, क्या आतंकवादियों को इनका दुष्परिणाम भोगना नहीं पड़ेगा? यह बात उनको कौन समझाए? कुछ लोग सोचते हैं कि उनकी मांगें पूरी कर दी जाएं। यह भी कोई समाधान का रास्ता है? आज जो मांगें हैं, उनकी पूर्ति होने के बाद क्या नई मांगें सामने नहीं आएंगी? इसकी गारंटी कौन लेता है? किस-किसकी मांगें पूरी हुई हैं? सब लोगों की सब मांगें पूरी हो जाएं, यह संभव नहीं है।

आतंकवाद जैसे बड़े-बड़े अपराधों में सम्मिलित लोग मृत्यु का दर्शन समझ लें, मृत्यु के बाद भी मनुष्य अपने सुकृत और दुष्कृत का फल भोगते हैं। इस सचाई

से उनका साक्षात्कार हो जाए तो उनके चिंतन और कार्य-कलापों की दिशा बदल सकती है।

आस्था, संकल्प और सहिष्णुता

संसार में हिंसा बढ़ रही है, असत्य बढ़ रहा है, यह एक समस्या है। इससे भी बड़ी समस्या है–अहिंसा और सत्य से विश्वास का उठना। मनुष्य हिंसा करता है। उसमें उसे विवशता का अनुभव हो तो वह उसे कभी छोड़ भी सकता है, किंतु जो व्यक्ति यह मान कर बैठ जाए कि अहिंसा, सत्य आदि के सहारे जीवन चल ही नहीं सकता, वह हिंसा से उपरत कैसे होगा?

हिंसा पाप है, झूठ बोलना पाप है, आस्थाहीनता महापाप है। अणुव्रत इस महापाप से बचने का रास्ता दिखाता है। यह मनुष्य के मन में आस्था का दीया जलाता है। कुछ लोगों का अभिमत है कि व्यवसाय से निवृत्त होने के बाद अणुव्रती बनना चाहिए। व्रतों का पालन भी हो जाए और कोई कठिनाई भी न आए, यहां भी वणिकवृत्ति काम कर रही है। सब दांत टूट जाने के बाद सुपारी खाने का त्याग! क्या महत्त्व है इस त्याग का?

जो व्यक्ति हर एक काम करने में सक्षम हो, वह अणुव्रती बने। व्रतों की अनुपालना में उपस्थित कठिनाइयों का मुकाबला करे और अपने आचरण से दूसरों को दिशा-दर्शन दे। मनुष्य में इतनी क्षमता है कि वह मौत के भय से भी मुक्त रह सकता है। मौत से बड़ी मुसीबत क्या हो सकती है? व्रतों के प्रति आस्था, व्रत पालन का संकल्प और व्रती जीवन में समागत मुसीबतों को समभाव से सहन करना–ये तीन बातें जीवनगत हो जाएं तो मनुष्य अनेक प्रकार के भयों को पार कर निश्चिंतता का जीवन जी सकता है। ❐

कहानी

उपनिषद् में एक कथा है कि विरोचन इन्द्र प्रजापति (ब्रह्मा) के पास आया। प्रजापति से उसने पूछा–महाराज! मैं कौन हूं?

ब्रह्मा ने कहा–जाओ, वहां एक तालाब है, जब वह शांत हो जाये, पानी न हिलता हो, उस समय तुम वहां (पानी में) अपना प्रतिबिंब देखो। ब्रह्मा की आज्ञा मानकर इन्द्र वहां चला गया। जब वातावरण शांत हो गया, उस समय पानी में उसने अपना मुंह देखा। जब ध्यानपूर्वक उसने अपने प्रतिबिंब को देखा तो उसके अंतर में एक प्रश्न उठा– 'दीख रहा है वह मैं हूं या देख रहा है वह मैं हूं?'

उसने वापस आकर ब्रह्मा से पूछा–जब मैं अपना प्रतिबिंब देख रहा था, उस समय मुझे ऐसी भ्रांति हो गई कि 'देख रहा है, वह मैं हूं या दीख राह है, वह मैं हूं?'

ब्रह्मा ने कहा–मैंने इसीलिए तुमको वहां भेजा था।

इन्द्र ने कहा–मेरी समझ में तो कुछ आया नहीं।

ब्रह्मा बोले–जो वस्तु दिखाई देती है–वह नाशवान है, क्षणिक है। देखने वाले तुम हो, तुम द्रष्टा हो। जब तक भीतर की जाग्रति न आ जाये तब तक यह भान होना कठिन है।

जब देखने वाला साक्षी मैं हूं तो इन दृश्यों पर राग-द्वेष क्यों करूं? जिस दिन यह तत्त्व आपकी समझ में आ जायेगा, आपके उपवास, व्रत, नियम सभी सार्थक हो जायेंगे। ❐

कौन-सा है अपना देश?

आचार्यश्री तुलसी

मनुष्य को अपने देश से लगाव होता है, धरती से प्रेम होता है, विचारों से व्यामोह होता है और धारणाओं का आग्रह होता है। भौतिक स्तर पर जीने वाले व्यक्ति के इस अपनेपन को गलत नहीं माना जाता है, क्योंकि अपनेपन और परायेपन की भेदरेखा पर ही भौतिकता का महल खड़ा हो सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र में कोई अपना या पराया नहीं होता है। प्राणीमात्र के प्रति आत्मौपम्य भाव का विकास अध्यात्म की बुनियाद है। जैन आगमों में इस सत्य को 'सव्वभूयप्पभूयस्स'–सब जीवों को आत्मतुल्य समझने के रूप में प्रस्तुति दी गई है। अध्यात्म की भाषा निश्चय नय की भाषा है। निश्चय की दृष्टि से कोई किसी का अपना नहीं होता और कोई पराया नहीं होता।

व्यवहार नय बहुत अधिक गहराई तक नहीं जाता। वह अपने और पराए की सीमाओं को स्वीकार करता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर व्याख्या करता है। वह आध्यात्मिक मूल्यों को भी बांटता है। उसके अनुसार हर व्यक्ति का अपना लक्ष्य होता है, मंजिल होती है, पथ होता है और आदर्श होता है। मंजिल तक पहुंचने के बाद व्यक्ति को यह प्रतीत होता है कि वह अपने देश में आ गया।

वह होता है अपना देश

अध्यात्म के संसार में व्यक्ति का अपना देश होता है–मोक्ष । प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष अपना देश कैसे होता है? क्या कोई संसारी प्राणी वहां से आया है? क्या किसी ने उसको देखा है? क्या वहां पर किसी का अपना घर है? यदि ऐसा नहीं है तो फिर वह अपना देश कैसे हुआ? सामान्यतः अपना देश वह होता है, जहां व्यक्ति जन्म लेता है, जहां उसका पालन-पोषण होता है, जहां वह दीर्घकाल तक रहता है, जहां उसे सुख-दुःख का भोग करना पड़ता है, जहां वह अपने संबंधों का ताना-बाना बुनता है और जहां उसका ममत्व जुड़ा रहता है। इस दृष्टि से मनुष्य का अपना देश है यह संसार।

निश्चय की दृष्टि से वह देश अपना देश नहीं होता, जहां व्यक्ति निश्चिंत होकर नहीं रह सकता। अपना देश वह होता है, जहां पहुंचने के बाद लौटने की बात समाप्त हो जाती है, जहां छोटे-बड़े तथा अपने-पराए की भेदरेखा मिट जाती है, जहां केवल आनंद ही आनंद है, चेतना ही चेतना है, वह होता है अपना देश। जहां चेतना इतनी विशुद्ध हो जाती है कि उसमें किसी विजातीय तत्त्व का मिश्रण नहीं रहता । जहां हर व्यक्ति अपना स्वामी होता है। जहां कोई किसी के अस्तित्व में बाधा नहीं पहुंचाता। ऐसा देश कोई हो सकता है तो मोक्ष ही हो सकता है।

मोक्ष है सब दुःखों से छुटकारा

मोक्ष को अपना देश मानकर जो व्यक्ति उस दिशा में प्रस्थान करता है, उसके सामने मूलभूत प्रेरणा होती है दुःख मुक्ति की। दुःख किसी को प्रिय नहीं होता । फिर भी मनुष्य दुःख से संत्रस्त है। दुःख के तीन प्रकार हैं–आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आधिदैविक दुःख का संबंध भूतप्रेत आदि के साथ है। आधिभौतिक दुःख भौतिक पदार्थों से मिलता है। किसी ने पत्थर मार दिया, कहीं छत गिर गई, खंभे से टक्कर हो गई, आदि दुःखों का समावेश इसमें होता है। तीसरा

दुःख अपने भीतर से आता है। क्रोध, अहंकार, ममकार आदि इस दुःख के सर्जक हैं। अध्यात्म की भाषा में इसको उपाधि कहा जाता है। यह दुःख उक्त दोनों से अधिक भयंकर है। वे दुःख शरीर को प्रभावित करते हैं, किंतु इस दुःख से व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व प्रभावित होता है। इस दुःख से छुटकारा होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यह मोक्ष ही किसी का अपना देश हो सकता है।

मनुष्य जीवन ही संसार नहीं है

इस दुनिया में सबसे बड़ा प्राणी मनुष्य है। वह मान बैठा है कि मनुष्य जीवन ही संसार है। उसकी अवधारणा में यह बात जम गई है कि जब तक वह जीता है, तब तक संसार में है। मृत्यु उसके अस्तित्व के विनाश की सूचना है। यह अवधारणा सही नहीं है। मनुष्य की तरह पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, हवा-पानी आदि भी संसार हैं। गहराई से देखा जाए तो मनुष्य योनि में रहना भी कितना होता है। अधिक समय तो वनस्पति में बीतता है। वहां प्राणी अनंतकाल तक रह सकता है। अनंतकाल तक रहने के दो ही स्थान हैं–वनस्पति और मुक्ति। वनस्पति में जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है। मुक्ति में जाने के बाद पुनः संसार में आना असंभव है। इस दृष्टि से वहां अनंतकाल की स्थिति है। मुक्ति में पहुंचने वाला प्राणी अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतआनंद और अनंतशक्ति को उपलब्ध करता है। वहां अनंतकाल तक रहने में भी कोई कठिनाई नहीं होती, किंतु वनस्पति में जो जन्म-मरण की वेदना होती है, उसे सहना कठिन है। कठिन हो या सरल, जब तक प्राणी कर्म में प्रवृत्त है, संसार से मुक्ति नहीं हो सकती।

दुःख में से सुख निकल सकता है

मनुष्य का जीवन कई दृष्टियों से ऊंचा है, पर वहां भी सुख कहां है? रोग, शोक, भय, चिंता, अभाव आदि न जाने कितने दुःख मनुष्य को सताते हैं। इन सब दुःखों से छुटकारा पाने के लिए वह अपने देश में जाना चाहता है, मोक्ष की आकांक्षा करता है। कुछ लोगों की जिज्ञासा है कि क्या संसार में सुख का अनुभव हो ही नहीं सकता? क्यों नहीं, व्यक्ति चाहे तो एक सीमा तक सुख कहीं भी पा सकता है। संसार को दुःखों का घर मानना सापेक्ष सत्य है। दृष्टिकोण बदल जाए तो हर स्थिति में सुख की अनुभूति संभव है। इसी अनुभूति का चित्रण करते हुए कहा गया है–

दुःख दृष्कृतसंक्षयाय मनुते क्षान्तेः पदं वैरिणः,
कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुः जरा।
सर्वत्यागमहोत्सवाय मरणं जातिः सुहृद्प्रीतये,
संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ?

दुःख पाप का विनाश करने के लिए है, दुश्मन क्षमाशीलता बढ़ाने के लिए है, शरीर की अपवित्रता वैराग्यभाव की वृद्धि के लिए है, बुढ़ापा मोक्ष की अभिलाषा जगाने के लिए है, मृत्यु संपूर्ण त्याग रूप उत्सव के लिए है और जन्म स्वजन मित्रों की खुशी के लिए है। इस नजरिए से देखा जाए तो संसार सुखों से भरा पड़ा है। इसमें दुःख को कहीं अवकाश ही नहीं है।

अपेक्षा एक ही है कि मनुष्य का मन बदले। जब तक मन नहीं बदलता है, दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता है, यथार्थ का बोध नहीं हो सकता। यथार्थ को समझने वाला व्यक्ति ही दुःख में से सुख निकाल सकता है।

दृष्टिकोण बदल गया

मनुष्य के जीवन में कोई-कोई क्षण ऐसा आता है, जब उसका दृष्टिकोण बदलता है। एक चोर चोरी करने गया। वह जिस घर में घुसा, वहां कुछ व्यक्ति जगे हुए थे। उनकी आवाज की फुसफुसाहट ने उसको सावधान कर दिया। वह सांस रोककर खड़ा हो गया और कक्ष के भीतर होने वाले वार्तालाप को सुनने लगा। बात करने वाले पति-पत्नी थे। उनकी बातचीत का सिलसिला ऐसे शुरू हुआ–

पत्नी : अब हमारी अवस्था ढल रही है। हम कब तक संसार में उलझे रहेंगे? अब हमें घर छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिए। पति : तुम्हारा कहना ठीक है, पर यह भी तो बताओ कि हम अपना घर और संपत्ति किसे देंगे? हमारे कोई संतान तो है नहीं। पत्नी : जब सब कुछ

छोड़ना ही है, तो चिंता किसकी? जो होना है सो होगा, हमें अपनी साधना करनी है। पति : हम समाज में जीते हैं, ऐसी निरपेक्षता की बात ठीक नहीं है। पत्नी : संसार में बच्चों की कौन-सी कमी है? सुबह-सुबह गुरुकुल में चलें। वहां सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते हैं। सबसे पहले जो विद्यार्थी मिले, उसको सब कुछ सौंपकर निश्चिंत हो जाएं। पति : तुम्हारा सुझाव मुझे अच्छा लगा है। मैं आज रात को ही सारे कागजात व्यवस्थित कर लेता हूं। तुम भी अपना काम निबटा लो।

चोर ने पूरी बात सुनकर सोचा–चोरी का झंझट छोड़कर अब मुझे विद्यार्थी का रूप धारण करना चाहिए। मैं अभी से जाकर दरवाजे के पास खड़ा रहूंगा। पहला विद्यार्थी होने के कारण ये मुझे अपनी संपत्ति देना चाहेंगे। इस प्रकार मेरा काम बन जाएगा और मैं चोरी के अपराध से भी बच जाऊंगा। चोर उसी समय चलकर गुरुकुल पहुंचा। विद्यार्थी की समय सारिणी की जानकारी कर वह दरवाजे के पास खड़ा हो गया। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार सूर्योदय के साथ ही पति-पत्नी ने गुरुकुल में प्रवेश किया। तब तक वहां काफी विद्यार्थी आ चुके थे। उस गुरुकुल के दरवाजे दो थे। चोर जिस दरवाजे पर खड़ा था, पति-पत्नी उधर से नहीं आए। वह पहला विद्यार्थी बनकर खड़ा था, पर अंतिम हो गया। अब कोई दूसरा उपाय तो था नहीं। वह खड़ा-खड़ा देखने लगा।

पति-पत्नी सबसे पहले विद्यार्थी से मिले, उसका परिचय पूछा। उसे अपने साथ चलने के लिए कहा। उसने कारण जानना चाहा। उन्होंने बताया कि वे संन्यासी बनना चाहते हैं। इसलिए वे अपना घर और संपत्ति उसे दे देंगे। विद्यार्थी ने पूछा–'आप अपना धन-वैभव क्यों छोड़ रहे हैं?' पति-पत्नी बोले–'धन पाप का मूल है।' यह बात सुनते ही विद्यार्थी ने कहा–'धन पाप का मूल है, तो मेरे गले में क्यों डालते हैं? मुझे नहीं चाहिए आपकी संपत्ति।' पति-पत्नी उस विद्यार्थी को छोड़कर दूसरे के पास पहुंचे। उसने भी यही उत्तर दिया। एक-एक कर उस पंक्ति में खड़े सब विद्यार्थी असहमत हो गए। आखिर में वे वहां पहुंचे, जहां वह चोर कल्पना लोक में विहार कर रहा था। पति-पत्नी दोनों की आत्मीय निगाहें उस पर पड़ी। उसने हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। वे बोले–'वत्स! एक काम करोगे?' उसने पूछा–'क्या काम?' वे बोले–'हम संन्यास लेना चाहते हैं, पर हमारे मार्ग में एक बाधा है हमारी संपत्ति। हम उसका स्वामी तुम्हें बनाना चाहते हैं। तुम इसे संभाल लो, तो हम जल्दी-से जल्दी कीचड़ से निकलें।'

अब तक जिसके मन में धन पाने की बेचैनी बढ़ती जा रही थी, उसको एक झटका लगा। जो धन पाप का मूल है, जो कीचड़ है, जिसे लेने के लिए कोई तैयार नहीं है, उसे मैं क्यों लूं? इस विचारधारा की प्रेरणा से बोल उठा–'श्रीमान्! यदि आप इधर वाले दरवाजे से आकर सबसे पहले मेरे सामने प्रस्ताव रखते तो मैं एक क्षण भी विलंब किए बिना आपकी बात मान लेता, पर अब मुझे बोध मिल गया। इस पाप के मूल को मैं अपने गले में क्यों डालूं?'

अपने देश में जाने का उपाय

योगक्षेम वर्ष वह क्षण है, जो व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल सकता है, वृत्तियों में बदलाव ला सकता है, व्यक्ति में रूपांतरण घटित कर सकता है और दर-दर भटकते व्यक्ति को अपने देश पहुंचा सकता है। जैन आगमों की भाषा में अपना देश है मोक्ष। मोक्ष से हमारा अभिप्राय है दुःखों का आत्यंतिक क्षय। दुःख के सघन घेरे के बीच में आदमी खड़ा है। उस घेरे को तोड़ने का प्रयास हो, दुःख के कारणों को मिटाने का लक्ष्य हो, निषेधात्मक भावों से दूर रहने की आकांक्षा हो, पदार्थों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुखों की अयथार्थता को समझने की चेष्टा हो और इन सबसे पहले दृष्टि या मन के बदलाव की दिशा प्रशस्त हो, तो इसी जन्म में मोक्ष का अनुभव हो सकता है। यह अनुभव जिसे हो जाता है, उसे कहीं भी जाने की अपेक्षा नहीं है। एक ही उपाय है मोक्ष को पाने का, अपने देश में जाने का या दुःखों से मुक्त होने का। वह उपाय है अध्यात्म। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझकर व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार कर सकता है, स्वभाव में रमण कर सकता है और अपने देश में पहुंचकर शाश्वत आवास को प्राप्त कर सकता है। ❒

नौका से पार पहुंचो

आचार्य महाश्रमण

धार्मिक साहित्य में संसार को सागर माना गया है और उसको तरने के लिए नौका को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहां कहीं कठिनाई होती है उसे पार करने के लिए आदमी को साधन की अपेक्षा होती है। इसी तरह संसार का पार पाने के लिए भी कोई साधन चाहिए और पापों से पार पाने के लिए साधना चाहिए। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा गया–

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥4/36॥

श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि अर्जुन! मान लो तुम बहुत पापी आदमी हो, तुमने बहुत पाप किए हैं। पापों की नदी को तुम्हें तरना है। पापों की नदी को तरने के लिए तुम्हें साधन का उपयोग करना होगा। वह साधन होगा ज्ञान का। ज्ञानरूपी नौका में बैठ जाओ। वह ज्ञान रूपी नौका तुमको पाप रूपी नदी से पार पहुंचा देगी। ज्ञान आंतरिक अंधकार को दूर करने वाला प्रकाश है। गीता में ज्ञान को अनेक उपमाओं से उपमित किया गया। कहीं ज्ञान को अग्नि कहा गया, कहीं ज्ञान को नौका भी कहा गया। विभिन्न रूपों में ज्ञान को प्रस्तुत किया गया। जैन आगम उत्तराध्ययन में भी ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया गया है। वहां कहा गया–

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥28/30॥

सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र का गुण नहीं आ सकता और चारित्र का गुण आए बिना कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता। कर्मों से छुटकारा मिले बिना निर्वाण नहीं मिलता यानी निर्वाण के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। उसके बाद ही चारित्र संभव है। सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र भी नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति साधु बन गया, मुखवस्त्रिका बांध ली और साधु का आचार भी पालता रहा, परन्तु सम्यक् ज्ञान या सम्यक्त्व नहीं है तो उसका विशेष कल्याण नहीं होगा, साधना का ज्यादा फल उसे नहीं मिलेगा, क्योंकि मूल आधार उसके पास नहीं है। किसी अंक के आगे शून्य हो तो मूल्य बढ़ जाएगा, संख्या बढ़ जाएगी, पर अंकविहीन शून्य कितने भी हो जाएं, उनका क्या मूल्य है? सम्यक् ज्ञान अंक के समान है और चारित्र शून्य के रूप में है। ज्ञान के साथ चारित्र हो तो उसका मूल्य बहुत बढ़ जाएगा। आदमी सम्यक् ज्ञान का अभ्यास करे, तत्त्व को समझने का प्रयास करे। जैनदर्शन में नव तत्त्वों का विवेचन प्राप्त होता है। नव तत्त्वों को अच्छी तरह समझने का मतलब है–सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर लेना। जीव-अजीव संसार की मूल चीजें हैं। तत्त्व की दृष्टि से दो तत्त्व मुख्य हैं–बंध और मोक्ष। बंध और मोक्ष में सारा तत्त्वज्ञान आ जाता है। आश्रव, पुण्य और पाप बंध का परिवार है। संवर तथा निर्जरा मोक्ष का परिवार है। बंध और मोक्ष का विस्तार नव तत्त्वों में आता है। जो इनको समझ लेता है और जीवन में प्रयोग करता है तो उसका कल्याण हो जाता है। ज्ञान प्राप्त होने के बाद चारित्र की, आचार की साधना सम्यक्‌तया निष्पन्न हो सकती है। इसलिए ज्ञान के अभ्यास को बड़ा महत्त्व दिया गया।

गीताकार ने ज्ञानरूपी नौका की बात कही है। नौका के लिए यहां प्लव शब्द का प्रयोग किया गया। छोटी नौका प्लव कहलाती है। उत्तराध्ययन में नाव शब्द का प्रयोग किया गया। हमें धार्मिक साहित्य में अनेक बातों में समानता मिलती है। संसार को तरने के लिए श्रीकृष्ण ने भी नौका बताई है और उत्तराध्ययनकार ने भी नौका बताई है। समानता होने पर भी कुछ असमानता है। जहां श्रीकृष्ण ने ज्ञान को नौका बताया है वहीं उत्तराध्ययनकार ने शरीर को नौका बताया है–

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥23/73॥

शरीर नौका है, जीव नाविक है और संसार समुद्र है। इस शरीर रूपी नौका के द्वारा संसार सागर को तरा जा सकता है। शरीर के द्वारा साधना करें, तप करें, जप करें तो संसार समुद्र का पार पा जाएंगे। नौका दो तरह की होती है–सछिद्र और निश्छिद्र। सछिद्र नौका में कोई बैठे तो निश्चित रूप से वह डुबा देगी। निश्छिद्र नौका में बैठकर कोई आगे बढ़े तो वह पार पहुंच सकती है। शरीर रूपी नौका में भी जब पाप रूपी छेद हो जाते हैं तो वह हमें संसार रूपी सागर में डुबो देगी। इस शरीर से हम धर्म करें तो यह निश्छिद्र नौका की भांति पार ले जाएगी। आश्रव छिद्र है। इस शरीर के द्वारा आश्रव रूपी छिद्र से पुण्य-पाप रूपी कर्मों का आगमन हो रहा है। संवर की साधना नौका को निश्छिद्र बना देती है। आश्रव हमारे चेतना रूपी आंगन को, प्रांगण को मलिन बना देता है। गुरुदेव तुलसी ने रूपक की भाषा में कहा–म्हांरो हीरां जडियो आंगणियो कुण मैलो करग्यो रे। हमारा चेतना रूपी प्रांगण स्वभावतः बहुत स्वच्छ है पर आश्रव उसको गंदा कर देता है।

जीवन में ज्ञानयोग का भी महत्त्व है, भक्तियोग का भी महत्त्व है और कर्मयोग का भी महत्त्व है। जैनदर्शन में इस बात को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है–सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र तीनों की युति होने पर मोक्षमार्ग बनता है। सामान्य रूप में तीनों का योग मान लें और विशेष रूप में एक-एक का अभ्यास भी हो सकता है। एक साधु ज्ञान का अभ्यास ज्यादा करता है, दिन में रात में जितना समय मिलता है वह पठन-पाठन, चिंतन-मनन करता है यानी वह ज्ञानयोग का विशेष अभ्यास करने वाला साधु है। कोई साधु भक्तियोगी है। वह तत्त्वज्ञान की गहराई में ज्यादा नहीं जाता किन्तु जप, भजन खूब करता है। बड़ों की, पूज्यों की भक्ति करता रहता है। आराध्य की स्तुति, स्तवन करता है। तीसरा है कर्मयोगी। कर्मयोगी सेवा आदि खूब करता है। वह न ज्यादा ज्ञान करता है, न ज्यादा भक्ति करता है पर कर्मयोगी है। वृद्धों की, ग्लान की, आचार्यों की सेवा में लगा रहता है। दिन में अनेक बार उसे कहीं गोचरी आदि के लिए भेजा जाए, अन्य काम करवाया जाए, वह तैयार रहता है। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग–तीनों महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से किसी एक को भी पकड़ लिया जाए तो गीता की बात घटित हो जाती है। ज्ञानयोग की नौका से भी कल्याण हो सकता है, भक्तियोग की नौका से भी कल्याण हो सकता है और कर्मयोग की नौका से भी कल्याण हो सकता है। इन तीनों का समुच्चय रूप उत्तराध्ययन में प्राप्त कर सकते हैं कि शरीर ही नौका है। ज्ञानयोग भी शरीर से होगा, भक्तियोग भी शरीर से होगा और कर्मयोग भी शरीर से होगा इसलिए तीनों का साधन शरीर है। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया है–शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। धर्म की साधना का आदिभूत साधन शरीर होता है पर साथ में यह भी एक सत्य है कि पाप का साधन भी शरीर है। शरीर से पाप भी किया जा सकता है और शरीर से धर्म भी किया जा सकता है। शरीर से भोग भी भोगा जा सकता है तो शरीर से योग भी किया जा सकता है। गृहस्थ जीवन में भोग है तो शरीर के द्वारा योग साधना भी करनी चाहिए, अध्यात्म की साधना भी करनी चाहिए। योग युक्त शरीर नौका की तरह है। यह नौका तारने वाली है। भोगयुक्त शरीर की नौका प्राणी को, आत्मा को डुबाने वाली होती है। हम भले गीता को देखें, भले उत्तराध्ययन को देखें, दोनों में तरने के लिए नौका की बात है। हमारी यह नौका आश्रव मुक्त होकर निश्छिद्र हो जाएगी तो अवश्य ही हमें पार पहुंचा देगी। ❑

जीवनशैली और स्वास्थ्य

चातुर्मास की शुरुआत में बदलाव की चेतना जागे, इसलिए हम अपनी जीवनशैली के प्रति सावधान बनें। आचार्यश्री महाप्रज्ञ चाहते थे कि हमारी जीवनशैली में संयम जुड़े। संयम की साधना के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता हुआ प्रस्तुत है एक समाधायक लेख...

आचार्य महाप्रज्ञ

जीवन का प्रत्यक्ष संबंध शरीर से तथा परोक्ष संबंध मन के अनेक उपादानों और निमित्तों से है। भगवान महावीर ने जिन तत्त्वों का प्रतिपादन किया, उनमें प्रधान तत्त्व है–संयम। महावीर के इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवनशैली संयम प्रधान होनी चाहिए। समता, संतुलन आदि अनेक तत्त्व हैं। इन सबका संबंध है–संयम से। सभी व्यक्ति समता, संतुलन आदि चाहते हैं किंतु जब तक संयम की साधना नहीं होती, तब तक न समता आती है, न उपशम आता है और न संतुलन आता है। सामान्यतः संयम का अर्थ बहुत सीमित समझा जाता है। हमें उसे व्यापक अर्थ में समझना होगा। यही समझा जाता है कि किसी विशेष प्रकार का व्रत लेना संयम है। पतंजलि के अनुसार संयम का अर्थ है–धारणा, ध्यान और समाधि–तीनों का एकत्र योग। कोरी धारणा, कोरा ध्यान अथवा कोरी समाधि संयम नहीं है। तीनों का एकत्र योग संयम है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में महावीर द्वारा प्रतिपादित संयम का अर्थ है–मस्तिष्कीय नियंत्रण। जब तक मस्तिष्क के अनेक प्रकोष्ठों, उनके संबंधों या विभागों पर विचार न करें तो समता, उपशम और संतुलन की साधना नहीं हो सकती। मस्तिष्क का एक भाग है–इमोशनल ब्रेन। इसका संबंध इमोशंस से है। उपशम, कषाय-विजय आदि तभी संभव है जब इमोशनल ब्रेन पर नियंत्रण होता है।

संयम का अर्थ

मस्तिष्क का एक भाग है–लिंबिक सिस्टम। यहां भावनाएं उपजती हैं। सुख-दुःख, प्रसन्नता आदि की अनुभूति होती है। जब तक लिंबिक सिस्टम पर नियंत्रण नहीं होता तब तक भावनाओं पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क भाव-नियंत्रण का नियामक साधन है।

मस्तिष्क पर नियंत्रण के अभाव में न आहार-संयम हो सकता है और न अन्य संयम ही हो सकता है। लोग जानते हैं कि तंबाकू का सेवन करना, जर्दा खाना, मद्यपान करना आदि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, पर वे छोड़ नहीं पाते। इसका स्पष्ट हेतु है कि उनका अपने मस्तिष्क पर नियंत्रण नहीं है। यदि मस्तिष्क पर नियंत्रण हो जाए तो वह एक क्षण में छूट जाता है।

रोग उत्पत्ति के हेतु

भगवान महावीर ने रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाएं–

1. अत्यधिक भोजन, 2. अहितकर भोजन, 3. अतिनिद्रा, 4. अतिजागरण, 5. मल बाधा को रोकना, 6. मूत्र बाधा को रोकना, 7. पंथगमन 8. प्रतिकूल भोजन तथा 9. इंद्रियार्थ-विकोपन।

भोजन

पहला कारण है–अहितकर भोजन करना। भोजन में खान-पान की सभी वस्तुएं आ जाती हैं। तंबाकू, जर्दा, शराब आदि वस्तुओं का बार-बार खाना भी रोग का हेतु है। अधिक वस्तुओं का उपयोग करना भी रोग का हेतु है। मनुष्य यह जानता है, पर वह आहार का संयम कर नहीं पाता। आहार का संयम इसलिए नहीं हो पाता कि मस्तिष्क पर नियंत्रण नहीं है। यदि मस्तिष्क पर नियंत्रण होता है तो तत्काल आहार का समय हो सकता है।

श्रम स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक तत्त्व है। श्रम के बिना रक्त का संचार भी नहीं होता और व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह पाता। महावीर ने रोग का एक कारण बताया–अत्याशन अर्थात अत्यधिक खाना। अत्यधिक बैठे रहना भी रोग का एक कारण है। कुछ लोग सात-आठ घंटा बैठे रहते हैं। वे श्रम से जी चुराते हैं और रोग से आक्रांत हो जाते हैं।

अनिद्रा : अतिनिद्रा

अनिद्रा या अतिनिद्रा भी रोग का एक कारण बनती है। नींद स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है। इसलिए अनिद्रा और अतिनिद्रा से बचना चाहिए, संयमित निद्रा लेनी चाहिए। आयुर्वेद में भी अनिद्रा से होने वाली हानियों का उल्लेख है। उसमें दिवा-शयन–दिन में सोने का निषेध है। आयुर्वेद के अनुसार नींद और कफ का संबंध है। योग के अनुसार विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि अतिनिद्रा से आयु घटती है। नींद में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। ज्यादा नींद लेने वाला जीवन शक्ति को कम करता है। अति जागरण भी रोग का एक कारण है।

वाणी का संयम

वाणी का असंयम भी रोग पैदा करता है। इससे भी जीवनी शक्ति अधिक खर्च होती है। जैविक शक्ति के क्षरण के तीन मुख्य साधन हैं–आंख, वाणी और जननेंद्रिय। अंगुलियों से भी विद्युत निकलती है। जिन लोगों ने आभामंडल को देखा है या आभामंडल को जो देखना चाहते हैं उन्हें ज्ञात है कि अंगुलियों से विद्युत का प्रवाह निकलता है। अधिक बोलने वाला अपनी जीवनी शक्ति का अत्यधिक क्षरण करता है।

अब्रह्मचर्य

अब्रह्मचर्य भी रोग का प्रमुख साधन है। जीवन के तीन आलंबन हैं–ब्रह्मचर्य, आहार और निद्रा। काम की अति, आहार की अधिकता और नींद की अधिकता–तीनों रोग के कारण बनते हैं। इन सब पर नियंत्रण करना संयम है। संयम अर्थात मस्तिष्क पर नियंत्रण। जिसने मस्तिष्क पर नियंत्रण करना सीखा है, वह बहुत स्वस्थ रह सकता है।

क्रोध के संवेग के प्रबल होने पर आदमी बीमार हो जाता है। इसका कारण है–मस्तिष्क में तनाव। मस्तिष्क में तनाव आते ही स्नायु-संस्थान दुर्बल हो जाता है। जिसका स्नायु-संस्थान दुर्बल होता है उस पर रोग का आक्रमण होता रहता है। आयुर्वेद मानता है कि क्रोध से पित्त का प्रकोप बढ़ता है। उससे एसिडिटी बढ़ती है, अल्सर हो जाता है।

स्वास्थ्य और मस्तिष्क

स्वास्थ्य और मस्तिष्क–दोनों में गहरा संबंध है। जो व्यक्ति मस्तिष्क पर नियंत्रण करना नहीं जानता, नियंत्रण की विधियों को नहीं जानता वह शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से भी स्वस्थ नहीं रह सकता। आगंतुक बीमारियों पर उसका कंट्रोल न भी हो, परंतु बड़ी-बड़ी जो बीमारियां हैं, उनका संबंध संयम

और असंयम से बहुत है। शरीरशास्त्र में मस्तिष्क का गहरा अध्ययन हुआ है। उसमें अल्फा और थेटा–इन तरंगों का अध्ययन हुआ है। अल्फा से मस्तिष्क का तनाव कम होता है। इसका अर्थ है कि ग्रंथियों का स्राव संतुलित होता है। जब हमारी अंतःस्रावी ग्रंथियों का स्राव संतुलित होने लगता है तब मनुष्य स्वस्थ रहता है।

आरोग्य है समता

हम अध्यात्म के इन तत्त्वों पर विचार करें और जीवनशैली में इनका समावेश करें। समता अध्यात्म का तत्त्व है। समता का अर्थ है–समभाव, कहीं झुकाव नहीं, कहीं विषमता नहीं। न चिंतन का वैषम्य, न कार्य का वैषम्य। आयुर्वेद का सूत्र है–'दोषवैषम्यं रोगः दोषसाम्यं आरोग्यम्।' दोषों की विषमता रोग है और रोगों का साम्य आरोग्य है। जब वात-पित्त और कफ विषम हो जाते हैं तब रोग उत्पन्न होता है और जब ये तीनों दोष सम अवस्थाओं में रहते हैं तब स्वास्थ्य होता है। मानसिक समता अरोग्य है। अतः समता और स्वास्थ्य को पर्यायवाची मान सकते हैं। जहां समता है वहां स्वास्थ्य है और जहां स्वास्थ्य है वहां समता है। जहां विषमता है वहां रोग है और जहां रोग है, वहां विषमता है। अहंकार, कपट, लोभ–ये सब रोग के उत्पादक हैं। माधव निदान ग्रंथ में हृदय को दुर्बल बनाने वाले कारणों में एक कारण लोभ को माना है। जिसमें लोभ की प्रवृत्ति अधिक होगी, उसका हृदय दुर्बल होगा। सभी संवेग स्वास्थ्य को अस्त-व्यस्त कर देते हैं।

हमारी जीवनशैली उपशमप्रधान, समताप्रधान तथा संतुलनप्रधान होनी चाहिए। इस प्रकार की जीवनशैली का मुख्य तत्त्व है–संयम। यह तत्त्व सभी तत्त्वों के साथ अनुस्यूत है। जिस जीवनशैली में यह तत्त्व होता है वह जीवन सुखी और आनंदप्रद होता है।

जरूरी है प्रशिक्षण

प्रेक्षाध्यान पद्धति में अनुप्रेक्षा तथा कुछ अंशों में सम्मोहन का प्रयोग कराया जाता है। यह इसलिए कि मस्तिष्कीय नियंत्रण तथा भावनात्मक नियंत्रण सध सके। अनुप्रेक्षा में एक निश्चित शब्दावली को बार-बार दोहराया जाता है अर्थात इस प्रक्रिया से हम मस्तिष्क को सुझाव देते हैं। यह मस्तिष्क को प्रभावित करता है। मस्तिष्क को प्रभावित करने वाला मुख्य तथ्य है–भावना। भावना का अर्थ है–बार-बार अभ्यास। जब मस्तिष्क में एक ही भावना बार-बार उभरती है तो वह मस्तिष्क प्रशिक्षित हो जाता है। उसके प्रशिक्षण के बिना संयम की बात सधती नहीं। मस्तिष्क सुझाव को स्वीकार करता है और इस स्वीकृति का कर्मशास्त्रीय कारण है–लेश्या। यह प्रवाह भीतर विद्यमान है। यही हमारे व्यवहार को प्रभावित करता है। शरीर शास्त्र की दृष्टि से माना जाता है कि ग्रंथियों का स्राव असंतुलित हो जाता है तब अस्वास्थ्य उभर आता है। इसी प्रकार हमारा भीतरी प्रवाह लेश्या भी हमारे स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य के लिए जिम्मेवार है। हम पवित्र लेश्या या भावना का प्रयोग करें मस्तिष्क उससे प्रभावित होगा।

कार्यकारी होते हैं स्नायुगत संस्कार

आगमों में एक महत्त्वपूर्ण शब्द है भावियप्पा–भावितात्मा। भावितात्मा वह होता है, जिसने अपने मन को भावित, वासित कर लिया है। मस्तिष्क और स्नायु-संस्थान को निरपेक्ष होकर अपने अनुसार बना लिया है। स्नायुगत संस्कार बहुत कार्यकारी होते हैं। कुछ क्रियाएं शारीरिक और स्नायविक अभ्यास के कारण भी चलती हैं। जिस घर में रहते हैं और प्रतिदिन जिन सीढ़ियों पर आरोहण-अवरोहण करते हैं, वहां प्रतिदिन जागरूक रहने की आवश्यकता नहीं होती। सीढ़ियों पर पैर अपने आप उठेंगे और आगे बढ़ते जाएंगे। सीढ़ियों की ऊंचाई की ओर प्रतिपल ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह सारा स्नायविक अभ्यास के कारण होता है। यदि अन्य सीढ़ियों पर चढ़ना पड़े तो वहां अत्यंत जागरूक रहना होता है। सीढ़ियों की ऊंचाई को ध्यान में रखकर पैर रखना होता है। हम स्नायु-संस्थान को जो अभ्यास देते हैं। वह वैसा ही करता रहता है। कुछ व्यक्तियों को विचित्र रूप में स्नायविक अभ्यास हो जाता है। कुछ

की अंगुलियां हिलती रहती हैं। कागज पेंसिल न होने पर भी लिखने की मुद्रा बनी रहती है। एक व्यक्ति का ऐसा स्नायविक अभ्यास था कि वह कहीं भी बैठा रहता तो निरंतर लकीरें खींचता रहता। एक बार वह अपने मित्रों के साथ नौका विहार में गया। वहां भी वह हाथ बाहर निकालकर अंगुली से पानी पर लकीरें खींचने लगा। लोगों ने उसके स्नायविक अभ्यास के लिए आश्चर्य व्यक्त किया।

मस्तिष्कीय नियंत्रण का सूत्र

स्नायु-संस्थान को किस प्रकार का अभ्यास देना है, यह व्यक्ति पर निर्भर करता है। अच्छा या बुरा जैसा भी अभ्यास दिया जाएगा, स्नायु संस्थान वैसा करता रहेगा। साधना का प्रयोजन यही है कि जो दिया हुआ अभ्यास हितकर नहीं है, उसे बदलकर दूसरा हितकारी अभ्यास किया जाए। जो अभ्यास स्वास्थ्य के लिए बाधक है, उससे मुक्त होकर स्वास्थ्य-प्रदायी अभ्यास दिया जाए। अनुप्रेक्षा और भावना के द्वारा ऐसा घटित किया जा सकता है। एक व्यक्ति पत्नी वियोग से अत्यंत दुःखी था। वियोग में दुःख का संवेदन करना उसका संस्कार था। उसे अनुप्रेक्षा का प्रयोग करवाया गया। उसमें यह भावना पुष्ट हो गई कि जहां संयोग है, वहां वियोग अवश्यंभावी है। संयोग में सुखी और वियोग में दुःखी होना एक संस्कार मात्र है। यथार्थ यह है कि संयोग और वियोग में पूर्ण समभाव रखें। दुःखी व्यक्ति ने भावना के इस मर्म को पकड़ा और उसका दुःख का संवेदन कम हो गया। वह प्रसन्न रहने लगा।

क्रोध आता है तो क्षमा की भावना का अभ्यास करो। अहंकार है तो नम्रता की भावना का अभ्यास करो। लोभ की मात्रा बढ़ी हुई है तो संतोष की भावना को वृद्धिंगत करो। प्रतिपक्षी भावना से सफलता मिल सकती है। प्रतिपक्ष की भावना स्वास्थ्य की कुंजी है। एक बीमार व्यक्ति यदि प्रतिदिन कहता जाएगा कि मैं बीमार हूं, मैं बीमार हूं तो वह बीमार ही बना रहेगा, दुःख का संवेदन ही करेगा। ज्ञानी कहते हैं–हमारे भीतर आरोग्य अधिक है। तुम उसका चिंतन करो। अपने स्वर को बदलो–मैं रोगी नहीं हूं, स्वस्थ हूं, स्वस्थ हूं। इन प्रतिपक्षी स्वरों से आश्चर्य घटित होगा।

प्रतिपक्षी भावना का सूत्र मस्तिष्कीय नियंत्रण का सूत्र है। इसी प्रकार श्वास भी नियंत्रण का एक सूत्र है। जब बायां नथुना सक्रिय होता है तो दायें मस्तिष्क पर नियंत्रण होता है और जब दायां नथुना सक्रिय होता है तो बायें मस्तिष्क पर नियंत्रण होता है। मस्तिष्क का बायां पटल शरीर के दाएं भाग का संचालन करता है और दायां पटल शरीर के बायें भाग का संचालन करता है। यदि श्वास की प्रणाली सम्यक् हो जाती है तो नियंत्रण का क्रम सम्यक बन जाता है।

इस प्रकार मस्तिष्क का नियंत्रण हमारे स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण आधार बनता है।

इंद्रिय-संयम और स्वास्थ्य

रोग का एक कारण है– काम विकार। इसका व्यापक अर्थ होगा इंद्रियों के विषयों को उत्तेजित मत करो। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श–इनका विकोपन मत करो। इन इंद्रिय विषयों का अतिभोग–विकोपन रोगों का हेतु बनता है। इसलिए इंद्रियसंयम अपेक्षित है। इंद्रिय संयम स्वास्थ्य का मूल मंत्र है। इस संयम की साधना के लिए मस्तिष्कीय नियंत्रण कर विधियों, पद्धतियों को जानना बहुत आवश्यक है।

उठना, बैठना, सोना, खड़ा होना, श्वास लेना आदि ये सारी छोटी क्रियाएं हैं किंतु इनमें जितनी जागरूकता और संयम होगा, उतनी ही क्रियाएं हमारी जीवनशैली को निखारेगी और तब तक जीवन प्रसन्नता से भरा रहेगा।

स्वस्थ मस्तिष्क स्वस्थ जीवन का प्रतीक है। स्वस्थ मस्तिष्क का घटक तत्त्व है–संयम। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि जीवनशैली का प्रधान तत्त्व है–संयम। संयम प्रधान जीवनशैली स्वास्थ्य की मूल्यवान निधि है। ❑

वर्षायोग अध्यात्म के नए प्रयोग

साध्वी कनकश्री

बादशाह ने सभासदों से पूछा–'बारह में से चार निकल जाए तो शेष कितने रहे?' जितना सीधा प्रश्न, उतना ही सीधा उत्तर मिला–'आठ।' बीरबल का गणित भिन्न था। उसने कहा–'बारह में चार गए, बाकी बचा शून्य।'

हमारा देश कृषि प्रधान है। कृषि वर्षा पर आधारित है। वर्ष के बारह महीनों में से वर्षा के चार महीने यदि निकाले जाते हैं तो शेष क्या बचेगा? सूखा, दुर्भिक्ष, महामारियां और मौत का तांडव नृत्य। सभासदों की मौन सहमति बीरबल की विलक्षण प्रतिभा का लोहा मान रही थी।

वर्षा ऋतु आध्यात्मिक मूल्य

वर्षाकाल जहां प्रकृति के अणु-अणु में प्राणवत्ता का संचार करता है, भूगर्भगत उर्वरता की अनंत भावनाओं को उभार देता है, वहां वह व्यक्ति और समाज की आध्यात्मिक चेतना को जगाने एवं संस्कार बीजों को बोने/उगाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

वर्षा ऋतु के चार महीनों के लिए 'चातुर्मास' शब्द का प्रयोग होता है। जैन परंपरा में आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक का समय तथा वैदिक परंपरा में आषाढ़ से आसोज तक का समय चातुर्मास कहलाता है। धन-धान्य की अभिवृद्धि के कारण उपलब्धियों भरा यह समय आत्म-वैभव को पाने एवं अध्यात्म की फसल को उगाने की दृष्टि से भी सर्वोत्तम माना गया है। इसका एक कारण यह है कि निरंतर परिव्रजन या पदयात्रा करने वाले साधु-संत भी इस समय एक जगह स्थिर प्रवास करते हैं। उनकी प्रेरणा वाले साधु-संत भी इस समय एक जगह स्थिर प्रवास करते हैं। उनकी प्रेरणा से धर्म जागरणा में वृद्धि होती है। जन-जन को सुखी, शांत और पवित्र जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण मिलता है। गृहस्थ समाज को उनके सान्निध्य में आत्मोपासना का भी अपूर्व अवसर उपलब्ध होता है। मनु स्मृति का निर्देश है–

ग्रीष्म हेमन्तकान् मासा नष्टौ प्रायेण पर्यटेत्।
दयार्थ सर्वभूतानाम् वर्षास्वेकत्र संवसेत्।।

साधु-संन्यासी ग्रीष्म हेमंत ऋतु के आठ महीनों में प्रायः पर्यटन करते रहें

और सब प्राणियों की दया हेतु वर्षा ऋतु में एकत्र निवास करें।

यही बात मत्स्य पुराण में भी कही गई है–

अष्टौमासिन्विहारः स्याद्यतीनाम् संयतात्मनाम्।
एकत्र चतुरोमासान् वार्षिकोन्निवसेत् पुनः।।

जैन मुनियों के लिए नव कल्पिक विहार का प्रावधान है। वे ऋतुबद्ध काल में एक माह से अधिक कहीं नहीं ठहरते हैं। पर चातुर्मास में यात्रा न कर, एक जगह स्थिरता से रहते हैं।

वर्षा ऋतु में विहार न करने का एक कारण बताया गया है–जीव दया-अहिंसा। वर्षा ऋतु में पानी और हरियाली के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म जीवों की भी अपार उत्पत्ति होती है। षट्जीवनिकाय के संरक्षक जैन मुनि उस हिंसा से बचने के लिए गमनागमन की प्रवृत्ति को सीमित कर लेते हैं।

चातुर्मासिक स्थिर प्रवास का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है–आत्मलीनता के लिए विशेष साधना, विशेष प्रयोग।

संतुलन प्रवृत्ति और निवृत्ति का

जैन मुनि की चर्या गतिशीलता में स्थिरता और स्थिरता में गतिशीलता की प्रतीक है। वे बाहर से निरंतर गति, पदयात्रा करते हुए भी भीतर से स्थिर, आत्म-स्थित होते हैं। वर्षा योग में गति से विराम होते हुए भी उनकी अंतर्यात्रा में ठहराव नहीं आता। स्वभाव परिणति या चैतन्य की अनुभूति में और अधिक तीव्रता आ जाती है।

लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियों से उपजी आठ माह की विशेष सक्रियता के सीमाकरण हेतु जैन मुनि वर्षायोग में अकर्म की विशेष साधना करते हैं। ध्यान, मौन, तपस्या एवं स्वाध्याय योग का आलंबन लेकर वे प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर प्रस्थित होते हैं। निशीथ भाष्य और चूर्णि में लिखा है–

चतुर्मास में एक स्थान में स्थित श्रमण विशेष निर्जरा के लिए चार माह तक ही संस्तारक और फलक पर शयन करे। निरंतर आयंबिल तप करे। चार माह तक कूर कुषिण का सेवन करे। पूर्ण उपवासी रहे अथवा दो, चार, पांच आयंबिल कर शेष उपवास करे।

चातुर्मासिक भाव स्थापना है–औदायिक भाव क्रोध आदि का वर्जन कर क्षायिक या क्षायोपशमिक भावों में संक्रमण करना। एतदर्थ–ज्ञान योग, ध्यान योग और स्वाध्याय योग में आत्मा को स्थापित करना। चतुर्मास प्रवास में अध्यात्म के दीर्घकालीन एवं नियमित प्रयोगों से जहां साधु-साध्वियां स्वयं अध्यात्म की ऊंचाइयों का स्पर्श करते हैं, वहां श्रावक समाज भी उनसे नई जीवन दृष्टि प्राप्त करता है। स्वस्थ जीवनशैली का निर्धारण करता है।

संतों का अध्यात्म से अनुप्राणित आभामंडल समूचे वातावरण को शांति, ज्योति और आनंद के परमाणुओं से भर देता है।

लोक चेतना शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्त हो जाती है। उसे द्वंद्व दुविधाओं से त्राण मिलता है। भावनात्मक स्वास्थ्य उपलब्ध होता है।

संत धरती के कल्पवृक्ष होते हैं। वे संस्कृति के प्रतीक, परंपरा के संवाहक, जीवन कला के मर्मज्ञ और ज्ञान के रत्नदीप होते हैं। उनके सामीप्य में संस्कृति, परंपरा, इतिहास, धर्म और दर्शन का व्यवस्थित प्रशिक्षण लिया जा सकता है। उनका उपदेश किसी की ज्ञान चेतना को जगाता है तो किसी की विवेक चेतना को विकसित करता है। किसी को आत्महित में प्रवृत्त करता है तो किसी को चित्तगत संक्लेशों से निवृत्त करता है।

यही कारण है श्रावक समाज में धर्माचार्यों का या साधु-साध्वियों का चतुर्मास प्राप्त करने की बलवती भावना रहती है। आजीविकोपार्जन तथा सामाजिक/पारिवारिक दायित्वों के कारण चेतना का बहाव अधिकतर बहिर्मुख रहता है। आत्मजिज्ञासु श्रावक

समय-समय पर उसे अंतर्मुखी बनाना चाहते हैं। चतुर्मास का समय इसके लिए उपयुक्त रहता है। त्यागी, संयमी, तपस्वी, साधु-साध्वियों का सान्निध्य मिले–इस दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक/धार्मिक संगठन तथा समाज के वरिष्ठ व्यक्ति इस दिशा में भगीरथ प्रयत्न करते हैं।

चतुर्मास का अधिकारी कौन?

चतुर्मास की स्वीकृति या नियुक्ति से पहले अधिकृत व्यक्तियों से कई पहलुओं पर सोचना-विचारना पड़ता है। उनमें प्रमुख हैं–क्षेत्रीय अपेक्षा और उपयोगिता। प्राचीन समय में इसकी निर्णायकता के चार बिंदु थे–

1. **आत्म जिज्ञासा**–साधना का आदि बिंदु है–जिज्ञासा। जिज्ञासा के बिना आत्मज्ञान अशक्य है। अपेक्षा है चेतना बर्फ की भांति जमी न रहे। उसमें जिज्ञासा की आग पैदा हो। जिज्ञासा के अभाव में चेतना में एक प्रकार का जमाव या ठहराव आ जाता है। वह धार्मिक समाज के लिए शुभ नहीं, कष्टकर हो जाता है। जैसे वर्षों तक एक ही कक्षा में रहने वाला विद्यार्थी एबनॉर्मल माना जाता है। इसका कारण है उसके मस्तिष्कीय विकास की कमी। वैसे ही वर्षों तक धर्म की उपासना करने वाला श्रावक समाज यदि धार्मिकता की पहली-दूसरी कक्षा को भी पार न कर सके तो उसकी धार्मिकता पर प्रश्नचिह्न अंकित हो जाता है। जहां का श्रावक समाज जागरूक हो, आत्म जिज्ञासु हो, स्वयं को खोजने, पाने और बदलने की दिशा में अध्यात्म के विशेष प्रयोग करना चाहता हो, वह क्षेत्र चतुर्मास पाने का अधिकारी माना जाता है।

2. **धर्म प्रचार की भावना**–जो व्यक्ति या समाज उपलब्ध तत्त्व दर्शन तथा साधना पद्धति का बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय प्रचार करने की रुचि रखता हो, उसकी प्रार्थना पर उक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधु-साध्वियों का सान्निध्य मिल सकता है।

3. **विशिष्ट साधना**–जहां कुछ व्यक्ति सामूहिक रूप से ध्यान-साधना, तपोयोग या मंत्र अनुष्ठान करना चाहें, उन्हें चतुर्मास का उपहार प्राप्त हो सकता है। किसी के अस्वास्थ्य की स्थिति में उसे समाधि प्रदान करने की दृष्टि से या अंतिम मारणांतिक संलेखना की आराधना में अपेक्षित सहयोग प्रदान करने के लिए भी वहां चतुर्मास की नियुक्ति हो सकती है।

4. **क्षेत्रीय स्थिति**–जिस क्षेत्र की स्थिति विषम हो। जनता विग्रह, अशांति, अराजकता या अत्याचारी शासक की क्रूरता की शिकार हो, उस समस्या के समाधान हेतु शांति और समाज के प्रतीक साधु-साध्वियों का चतुर्मास वहां करवाया जा सकता है। क्योंकि संत वस्तुतः वही होता है जो औरों को शांति प्रदान करे। बाहर-भीतर के वातावरण को शांति से भर दे। जो स्वयं शांत रस में सराबोर रहता है तथा औरों के लिए सदा शांति का अमृत छलकाता रहता है।

वह क्षेत्र सौभाग्यशाली माना जाता है, जहां साधु-साध्वियों का चतुर्मास होता है। उनके अध्यात्म प्रवचन ज्ञान के स्तोत्र तथा जीवन के मंत्र सूत्र बन जाते हैं। उनके सान्निध्य का अर्थ है–बाहर और भीतर की चेतना का मौन हो जाना। मौन और खामोशी के क्षणों में ही ज्ञानियों की वाणी को सुना जा सकता है। उसी से आंतरिक बदलाव घटित होता है।

ज्ञानी मुनि-जनों के मुख से शास्त्र वाणी का श्रवण करने से वैराग्य पुष्ट होता है। त्याग-प्रत्याख्यान में वृद्धि होती है। कर्म निर्जरा के लिए पराक्रम के प्रस्फोट की प्रेरणा मिलती है। गांव और घर-घर में तप आराधना का ज्वार-सा आ जाता है।

इस प्रकार साधु-साध्वियों के पावस प्रवास में श्रुत धर्म और चरित्र धर्म की आराधना के नए आयाम उद्घाटित होते हैं। अहिंसा, संयम और तप की त्रिपथगा सत्यं, शिवं, सुंदरम् का निनाद करती हुई समाज की उर्वरा में ज्योति की फसलें उगाती हैं।

प्रश्न है, संस्कृति की इस अमूल्य धरोहर का कौन कितना उपयोग करता है? ❑

चतुर्मास प्रारम्भ होने पर कैसे करें साधना?

आचार्यविजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी

आषाढ़ाख्यचतुर्मास्यां विशेषाद्विधिपूर्वकम्।
अभिग्रहा सदा ग्राह्या सम्यगर्हा विवेकिभिः।।

परम उपकारी परमात्मा जिनेश्वरदेव सकल जीवसृष्टि के कल्याण के लिए 'धर्मतीर्थ' की स्थापना करते हैं और जीवों को धर्म का उपदेश देते हैं। चूंकि उन्होंने अपने पूर्णज्ञान में देखा कि जीवात्मा पापों से दुःख पाता है, धर्म से सुख पाता है–**पापाद् दुःखम् धर्मात् सुखम्।** परंतु अज्ञानी जीव, मोहमूढ़ जीव सुख पाने के लिए पापमार्ग पर चलते हैं! सुख पाने के लिए हिंसा करते हैं, सुख पाने के लिए झूठ बोलते हैं, सुख पाने के लिए चोरी करते हैं, सुख पाने के लिए दुराचार सेवन करते हैं, सुख पाने के लिए ममता-मूर्च्छा करते हैं! सुख पाने के लिए क्रोध-मान-माया और लोभ करते हैं! परंतु क्या यह सब करने से उनको सुख मिलता है? शांति मिलती है? नहीं, घोर दुःख और अशांति भोगते हुए जीवन पूर्ण करते हैं और दुर्गति में चले जाते हैं।

सभी सुखों का मूल धर्म है। यदि मनुष्य श्रद्धा से धर्म की आराधना करता है तो उसको सभी प्रकार के सुख मिलते हैं–

करोति विश्वस्य समीहितानी धर्मः समाराधित एव भक्त्या।
मूढ़ा जनास्तं न भजन्ति किन्तु वाञ्छन्ति सौख्यानि निरन्तराणि।।

भक्ति से, श्रद्धा से आराधित धर्म संसार के सभी इच्छित पूर्ण करता है, परंतु मूढ़ लोग ऐसे धर्म की आराधना नहीं करते हैं। अलबत्ता, वे निरंतर सुखों की इच्छा जरूर करते हैं।

धर्म की आराधना में प्रथम चाहिए श्रद्धा। 'धर्म से ही सुख मिलता है, धर्म से ही दुःख दूर होते हैं'–इस बात की श्रद्धा होनी चाहिए। बाद में धर्मतत्त्व का ज्ञान होना चाहिए। यानी धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म का प्रभाव क्या है? धर्माराधना का क्रमिक विकासक्रम क्या है? इत्यादि का ज्ञान होना चाहिए। प्रत्येक धर्मक्रिया की विधि का ज्ञान भी होना चाहिए। चूंकि हर धर्मक्रिया विधिपूर्वक करने से ही फलदायी बनती है। विधि में 'काल' का समावेश हो जाता है। धर्मक्रिया जिस समय में करने का विधान हो, उस काल में ही धर्मक्रिया करनी चाहिए।

जैसे धर्म-क्रियाओं की विधि का ज्ञान होना चाहिए, वैसे धर्म-क्रिया के अलग-अलग फल का ज्ञान भी होना चाहिए। हालांकि अंतिम फल तो आत्मा की विशुद्धि ही है, परंतु तात्कालिक फल का ज्ञान भी होना चाहिए। जैसे–परमात्मा की पूजा करने से चित्त की समाधि प्राप्त होती है, सामायिक करने से समताभाव प्राप्त होता है, प्रतिक्रमण करने से पापों का राग टूटता है...आदि-आदि। साथ-साथ भौतिक लाभ तो होते ही हैं, परंतु उन लाभों के चिंतन की आवश्यकता नहीं है। जो स्वतः मिलने वाला है, उसका चिंतन क्यों करना?

धर्माराधना में विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपेक्षित होते हैं। द्रव्य यानी साधन-सामग्री, क्षेत्र यानी उचित स्थान, काल यानी योग्य समय और भाव यानी क्रिया के अनुरूप शुभ चिंतन। प्रत्येक धर्माराधना में ये चार बातें महत्वपूर्ण होती हैं। इस लेख में विशेष रूप से 'काल' के संदर्भ में आप पढ़ेंगे। 'काल' के आधार पर द्रव्य, क्षेत्र और भाव के विषय में भी मार्गदर्शन देना है। धर्माराधना की दृष्टि से ज्ञानी पुरुषों ने वर्ष के तीन विभाग किए हैं–

1. कार्तिक चातुर्मासी 2. फाल्गुन चातुर्मासी 3. आषाढ़ी चातुर्मासी

आषाढ़ी चातुर्मासी का जो वर्षाकाल है, उस विषय में ज्ञातव्य है कि आषाढ़ शुक्ला चतुदर्शी से वर्षाकाल का प्रारंभ होता है। आज से, भारत में जहां जहां भी जैन साधु-साध्वियां होंगे, एक गांव में एक स्थान पर स्थिर हो जाएंगे यानी कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी तक विहार नहीं करेंगे। चार महीना तपोमय जीवन जीते हुए संयम आराधना में निमग्न रहेंगे।

वर्षाकाल में जीवों की उत्पत्ति ज्यादा होती है। वनस्पति की उत्पत्ति भी ज्यादा होती है। इस काल में चलने-फिरने से, विहारादि करने से जीवहिंसा होती है, इसलिए विहारादि नहीं किया जाता। धर्मग्रंथों में कहा गया है कि मात्र साधु-साध्वी के लिए ही यह नियम है, ऐसा न समझें। आप लोगों के लिए यानी श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी यह नियम बताया गया है। भगवान नेमीनाथ के पास कृष्ण महाराजा ने यह नियम-प्रतिज्ञा ली थी कि चातुर्मास में द्वारिका से बाहर नहीं जाना है। वैसे कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी से गुर्जरेश्वर राजा कुमारपाल ने भी पाटण से बाहर नहीं जाने की प्रतिज्ञा ग्रहण की थी।

दर्शनं सर्वचैत्यानां गुरोरपि वन्दनम्।
मुक्त्वा पुरेऽपि न प्रायो भ्रमिष्यामि घनागमे।।

वर्षाकाल में इस प्रकार एक जगह ही रहने से जीवों की हिंसा से तो बचते हैं, विशेष रूप में निवृत्ति-धर्म का आराधन भी होता है। चार महीने तक संसार के कार्यों से संपूर्ण निवृत्त होकर, यदि आप लोग भक्तियोग, ज्ञानयोग और आत्मयोग की आराधना करते रहें, तो आपका जीवन कैसा बन जाएगा, आप इसकी कल्पना ही नहीं कर सकते।

'मुझे इस मनुष्य जीवन में आत्मकल्याण कर लेना है, इस दुर्लभ जीवन को व्यर्थ गंवाना नहीं है, ऐसा आपका दृढ़ संकल्प हो, और आजीविका की चिंता नहीं हो, तो अवश्य वर्षाकाल में चार महीने निवृत्ति लेकर, गुरुजनों का मार्गदर्शन लेकर आत्मकल्याण की आराधना की जा सकती है।

हृदय जीवदया से भरा हुआ होना चाहिए। तो ही वर्षा-चतुर्मास की आराधना की बात जंचेगी, अन्यथा नहीं। भक्ति, ज्ञान और अध्यात्म की चाह होगी हृदय में, तो हो निवृत्ति लेने की बात जंचेगी, अन्यथा नहीं। गुरुदेव हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के संपर्क में आने से राजा कुमारपाल परम दयालु बन गए थे। सूक्ष्म हिंसा से भी बचने का उन्होंने प्रयत्न किया था।

- उनके राज्य में उनके 11 लाख अश्वों को, 1100 हाथियों को एवं 80 हजार गाय-भैंसों को पानी छान कर पिलाया जाता था।
- अपने मुंह से कभी प्रमादवश 'मार' ऐसा हिंसावाची शब्द निकल जाता तो वे दूसरे दिन उपवास करते। झूठ बोला जाता तो दूसरे दिन आयंबिल करते।
- चतुर्मास में प्रतिदिन एकासन करते। एकासन में मात्र आठ वस्तु ही खाते। उस में भी दूध, दही, शक्कर, गुड़ और तले हुए पदार्थ नहीं खाते थे। हरी वनस्पति का त्याग करते थे।

* चातुर्मास में मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। मन से भी ब्रह्मचर्य का भंग होता तो दूसरे दिन उपवास करते थे। वैसे तो कुमारपाल ने बारह व्रत ग्रहण किए हुए थे। बाहर व्रतों का बहुत ही अच्छा पालन करते थे।
* प्रतिवर्ष वर्षाकाल में गुरुदेव के पास भक्ति एवं विनय से बैठकर वे धर्मग्रंथों का अध्ययन करते थे। करीबन 60 वर्ष की उम्र में उन्होंने संस्कृत भाषा का व्याकरण पढ़ा था। संस्कृत भाषा के वे विद्वान बने थे।
* रोजाना परमात्म-मंदिर में जाकर अपूर्व भक्तिभाव से परमात्मा का दर्शन-पूजन-स्तवन करते थे। उन्होंने स्वयं भी परमात्मा के स्तोत्र बनाए थे।
* सूक्ष्म जीवों के प्रति भी उनकी दयाभावना प्रबल थी।

पर्वतिथि का दिन था। पर्वतिथि के दिन कुमारपाल 'पौषध व्रत' लेते और 24 घंटा पौषधशाला में रहते। उनके साथ दूसरे सैकड़ों श्रावक भी पौषधव्रत लेते थे। एक बार कुमारपाल जब पौषधव्रत में थे। उनके शरीर पर एक मकोड़ा चिपक गया। मुखवस्त्रिका से उसको उतारने का प्रयत्न किया, परंतु मकोड़ा नहीं उतरा। यदि हाथ से पकड़ कर दूर करने का प्रयत्न करते तो शायद वह मर सकता था या उसकी टांगें टूट सकती थीं और कुमारपाल वैसा करना नहीं चाहते थे। उन्होंने मकोड़े को कष्ट नहीं दिया, परंतु जहां पर मकोड़ा चिपका था, उस जगह की चमड़ी ही काट कर अलग रख दी। यह थी उनकी दयाभावना।

कुमारपाल ने समग्र गुजरात में अहिंसा का अद्भुत प्रसार किया। गुजरात में तब तक एक भी बूचड़खाना नहीं था। कोई भी व्यक्ति बैल, गाय, भैंस, बकरा वगैरह पशुओं की हत्या तो नहीं करता था, बालों में गिरनेवाली जू को भी कोई नहीं मार सकता था। एक व्यापारी ने जानबूझकर जू को मार डाला। उसकी पत्नी ने जाकर कुमारपाल को शिकायत कर दी। कुमारपाल ने उस व्यापारी को बुलवाया और दंड दिया एक जिनमंदिर बनवाने का। उसने जिनमंदिर बनवाया। 'यूकाविहार' के नाम से वह मंदिर पाटन में प्रसिद्ध हुआ। संस्कृत भाषा में 'जू' को 'यूका' कहते है।

स्वयं जीवदया का पालन करना और दूसरों से करवाना–कितना महान् धर्म है। कुमारपाल ने इस धर्म का, प्राणों की परवाह किए बिन पालन किया था। पाटण में देवी कंटकेश्वरी के मंदिर में प्रतिवर्ष आसोज महिने के शुक्लपक्ष में पशुबलि दी जाती थी।

आसोज शुक्लपक्ष के प्रारंभ में पुजारियों ने कुमारपाल के पास आकर कहा–महाराज! आपके पूर्व राजाओं की परंपरानुसार देवी कंटकेश्वरी को शुक्लपक्ष की सप्तमी के दिन सात सौ बकरे और सात भैंसे देने चाहिए। अष्टमी को आठ सौ बकरे और आठ भैंसे देने चाहिए। नवमी के दिन नौ सौ बकरे और नौं भैंसे देने चाहिए।' राजा ने कहा–'सोचकर जवाब दूंगा।' और कुमारपाल गुरुदेव हेमचन्द्रसूरिजी के पास गए। उनको सारी बात बता। गुरुदेव ने उनको पशुओं की रक्षा करने का एवं पशुबलि की प्रथा बंद करने का मार्ग बताया। कुमारपाल ने महल में जाकर, अपने विश्वासपात्र पुरुषों के द्वारा पुजारियों के हक में भेज दिए। मंदिर का बड़ा मैदान था। उसमें घास भी था। पशुओं को मंदिर के कम्पाउंड में बंद कर दिया और चारों तरफ रक्षकों को नियुक्त कर दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल कुमारपाल स्वयं पुजारियों को साथ लेकर मंदिर गया। मंदिर के द्वार खुलवाए। भीतर हजारों पशु घास खाते थे, दौड़ते थे, खेलते थे। कुमारपाल ने पुजारियों से कहा–मैंने तो देवी को ये पशु दे दिए थे।

यदि देवी की इच्छा इनका भक्ष्य बनाने की होती तो सभी पशुओं की मौत हो जाती और सिवाय उनकी हड्डियों के कुछ भी नहीं बचता। परंतु तुम देखो, सभी पशु निर्भयता से खेल रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि देवी को पशुओं का मांस नहीं चाहिए। मांसभक्षण तो तुम पुजारियों को करना था। परंतु अब तुम मांसभक्षण नहीं कर सकते। मैं जिंदा पशुओं को मारने नहीं दूंगा।'

रक्षकों ने पशुओं को मुक्त कर दिया। पुजारियों के चेहरे पर कालिख पुत गई। कुमारपाल ने देवी के सामने उतनी ही मिठाई रख दी कि जिसका मूल्य उन पशुओं के मूल्य के बराबर था। पुजारी तो चुप हो गए, परंतु देवी कंटकेश्वरी, जो चौलुक्य-वंश की कुलदेवी थी, वह कुपित हो गई। देवी प्रगट हुई और उसने कुमारपाल पर त्रिशूल से प्रहार कर दिया। त्रिशूल के प्रहार से राजा को कुष्ठरोग हो गया पूरे शरीर पर। फिर भी कुमारपाल भयभीत नहीं हुए। न उन्होंने देवी को पशुबलि दी। महामंत्री उदयन को मालूम हुआ। वे गए गुरुदेव हेमचन्द्रजीसूरिजी के पास। आचार्यदेव ने जल को अभिमंत्रित कर कुमारपाल पर छिड़का और राजा का कुष्ठ रोग दूर हो गया।

चतुर्मासकाल में जैसे कुमारपाल विशेष प्रकार के नियम ग्रहण करते थे, वैसे ही आप लोगों को भी थोड़े-बहुत नियम ग्रहण करने चाहिए। कुछ प्रतिज्ञाएं लेनी चाहिए। ये नियम दो प्रकार के होते हैं–

1. पापों के त्याग स्वरूप, 2. धर्माराधनारूप।

चतुर्मास में विशेष रूप से जो त्याग करने चाहिए, ऐसी कुछ बातें ज्ञातव्य हैं–

1. मुसाफरी, 2. आमफल, 3. पत्ती की भाजी, 4. जामुन, 5.घर की वार्षिक सफाई, 6. नया मकान बनाना, 7. पुराना मकान रीपेयर कराना, 8. खारक, खजूर, 9. पिछले दिन की तोड़ी हुई सुपारी, 10. कच्चा पानी, 11. सिनेमा, नाटक, सरकस, 12. बर्फ, आइसक्रीम।

चतुर्मास में विशेष रूप से क्या क्या करना चाहिए, उसकी सूची प्रस्तुत है–

1. सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर श्रद्धा को दृढ़ करना, 2. परमात्मदर्शन, 3. परमात्मपूजन, 4. जगते ही नवकार स्मरण, 5. प्रतिक्रमण, ६. सामायिक, 7. गुरुवंदन, 8. स्नानपूजा, 9. व्याख्यान-श्रवण, 10. पौषधव्रत (पर्वतिथि में), 11. उपवास (पर्वतिथि में) 12. आयंबिल (महिने में कुछ) 13. एकासना (महिने में कुछ) 14. कुछ विगय का त्याग, 15. सचित्त का त्याग, 16. हरि वनस्पति का त्याग, 17. थाली धोकर पीना, 18. नवकार मंत्र की एक माला, 19. धार्मिक पुस्तकों का पढ़ना, 20. गर्म पानी पीना, 21. ब्रह्मचर्य का पालन, 22. पानी छान कर उपयोग करना, 23. नीचे देखकर चलना, 24. क्रोध नहीं करना, 25. झगड़ा नहीं करना, 26. सुपात्र दान देना, 27. ज्ञानदान देना, 28. अभयदान देना, 29. तीर्थ यात्रा (चातुर्मास में नहीं)।

इस सूची में से आप जो जो कर सकते हैं, उसकी प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। यावज्जीवन प्रतिज्ञा ले सकते हैं, कुछ वर्ष के लिए या कुछ महीने के लिए भी ले सकते हैं।

'प्रतिज्ञा भंग हो जाएगी तो बड़ा पाप लगेगा।'–इस भाव से डरना नहीं चाहिए। ऐसा संकल्प करें कि 'प्राण जाए तो जाए, पर प्रतिज्ञा का भंग नहीं करूंगा।' मनोबल दृढ़ बनाना चाहिए। जो मुमुक्षु बनकर चतुर्मास में धर्माराधना करने का पुरुषार्थ करेगा, उसके जीवन में आत्म-विकास के द्वार खुलेंगे। ❑

एक दृष्टिकोण अध्यात्म के प्रति

रणजीत दूगड़

अध्यात्म न कोई आस्था है, न कोई अवधारणा है और न ही कोई बौद्धिक विलास है। यह वह सत्य है जो आपके सामने इस प्रश्न को उपस्थित करता है कि आप कौन हैं और जो इस प्रश्न की अनुभूति कराने वाला है वह 'स्व अनुभव' की स्थिति क्या है, जब तक इस स्थिति का अनुभव नहीं होता, हमारी सारी यात्रा, सारी अनुभूति ऊपरी सतह पर ही चलती रहती है।

देखने में, सुनने में यह बहुत साधारण-सा लगता है, परंतु अनुभूति (एहसास) के स्तर पर यह प्रश्न बहुत गहरा है। वास्तव में इसे समझने और आत्मसात करने के लिए घंटों-घंटों अनुप्रेक्षा की अपेक्षा होती है।

अपेक्षा है एक अनुशासित व्यवस्थित जीवन जीने की और आध्यात्मिक प्रयोग करने की। इसकी जब अनुभूति होने लग जाती है, आंतरिक परिवर्तन स्वतः होने लग जाता है और बाह्य व्यवहार और दृष्टिकोण पर इसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लग जाता है।

सामान्यतः अध्यात्म और धर्म को एक ही मान लिया जाता है। जैसा कि हमें ज्ञात है कि धर्म किन्हीं निश्चित नियमों, सिद्धांतों, मान्यताओं की औपचारिक स्वीकृति है। 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति 'आदर' भाव से हुई, वह आदर जो प्राचीन समय में रोमन देवी-देवताओं के प्रति अभिव्यक्त किया जाता था। 'रिलिग्रेयर'–'रिलिजियो' शब्द जिसका शाब्दिक अर्थ है 'मजबूत बंधन'–वह बंधन जो शक्तिशाली देवी-देवताओं के प्रति उस अस्तित्व का है जो प्रकृति में पहले से ही मौजूद है। और गहराई में जाएं तो यह स्वयं की मूल प्राकृतिक अवस्था में प्रवेश करने से है। रिलिजियों का एक और अर्थ Etomological हो सकता है। जिसका अर्थ है–Reread यानी मनन करना। इस अवधारणा का और विस्तार किया जाए तो इसका अर्थ है होता है वस्तु का गहराई से मनन करना। मनन करते-करते यही साक्षात्कार की स्थिति बन जाती है जीव की। और गहरे–और गहरे में जाते-जाते व्यक्ति एक ऐसी श्रेष्ठ उच्च स्थिति में पहुंच जाता है जिसे आध्यात्मिकता का नाम दिया जा सकता है और जिसमें सभी धर्म समाहित हो जाते हैं।

श्रेष्ठ धर्म

एक बार ब्राजील के एक धर्मनेता लियोनार्डो वॉफ ने पूज्य दलाई लामा से पूछा–'महामहिम! प्रयोग करने के लिए सबसे श्रेष्ठ धर्म कौन-सा है?'

दलाई लामा हंसे और कहा–'श्रेष्ठ वह है जो तुम्हें भगवान के नजदीक पहुंचा दे। श्रेष्ठ वह है जो तुम्हें बेहतर इंसान बना दे।' 'किस चीज से मैं बेहतर इंसान बन सकता हूं?', 'अधिक-से-अधिक अनुकंपा, निर्विचारता, अनासक्ति, प्रेक्षा, उदारता, मानवता, दायित्वपूर्ण एवं नैतिकतापूर्ण व्यवहार से।' दूसरे शब्दों में कहा जाए तो श्रेष्ठ बनने का अर्थ है अपने स्वयं के प्रति जागरूक बनना। यह 'स्वयं' में होने वाला एक ऐसा परिवर्तन है जो मनुष्य को एक बेहतर इंसान बना देता है। तथाकथित धार्मिक कहलाए जाने से कोई परिवर्तन नहीं आता।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने कहा है–'जैन धर्म अहिंसा और अपरिग्रह (अभौतिकवादिता) को महत्त्व देता है–दूसरे सभी धर्म भी अहिंसा और मैत्री को महत्त्व देते हैं, फिर ऐसा क्यों है कि दुनिया में शांति नहीं है? क्या कारण है कि सदियों से चली आ रही स्वस्थ परंपराओं का व्यक्ति के व्यवहार में असर दिखाई नहीं दे रहा है। आपको इनके कारणों की खोज में कहीं दूर नहीं जाना है, केवल अपनी चेतना में परिवर्तन लाना होगा। आप अहिंसक बन सकते हैं, अपरिग्रही बन सकते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सबके मूल में चेतना ही काम कर रही है। आसक्ति, संवेदना, चाह, आकांक्षा आदि सभी हमारी चेतना में वास करते हैं।

जिंदगी हमारे पास हमारी सबसे अनमोल धरोहर है। सभी जीवों में जीवित रहने की मौलिक मनोवृत्ति होती है। विभिन्न व्यक्तियों के लिए जिंदगी का तात्पर्य भिन्न-भिन्न हो सकता है। अधिकांश के लिए यह जन्म और मृत्यु के बीच का एक पड़ाव है तो किसी के लिए यह एक 'कॉफी ब्रेक' है यानी खाना-पीना और मौज उड़ाना, इससे ज्यादा और कुछ नहीं सोचना। बहुत कम लोगों के लिए यह 'स्व-अनुभूति' की प्राप्ति का एक दुर्लभ अवसर है। वह भी केवल उनको ही उपलब्ध होता है जो जाग्रत हैं।

फिर भी जब हम जिंदगी का पूर्णरूपेण अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि हमें इसे और अधिक सुसमृद्ध, श्रेष्ठ बनाने के लिए व्यावहारिक स्तर पर भी अच्छे-से-अच्छे तरीकों को प्रयोग में लाने की व्यवस्था करनी होगी। इस व्यवस्था को करने के लिए एक साथ कई मोर्चों पर कार्य करना होगा–जैसे अपने समय का प्रबंधन करना, कमोवेशी अपने सभी संसाधनों का समुचित उपयोग करना। इससे और आगे चलें तो अपने मानसिक और सांसारिक संबंधों का ठीक समायोजन करना और उनकी व्यवस्था करना है। हमारे मानसिक स्वास्थ्य का सीधा संबंध हमारे शारीरिक स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ है। इसके बाद जाकर कहीं हम जीवन के उद्देश्य के दार्शनिक पहलू की बात कर सकते हैं।

समय-प्रबंधन

एक-एक क्षण का जोड़ ही जीवन है। जो एक क्षण बीत गया वह सदा के लिए चला गया। फिर भी हम इस अथाह खजाने के प्रति सजग नहीं हैं। हममें से कितनों ने एक दिन के कुल मिनटों को गिना होगा? उत्तर है–1440। समय प्रबंधन के बारे में संक्षेप में कहा जा सकता है कि समय सब चीज के लिए है और सब कुछ समय पर निर्भर है। यह एक भ्रांति (myth) है कि समय-प्रबंधन का अर्थ केवल 'जल्दी करना है।' 'इसे अभी करो, शीघ्र करो' आदि से है। वक्त ने वर्तमान के क्षण को जी भर जी लेने के भाव को तिरोहित कर दिया है। आखिरकार अतीत तो बीत चुका है, मृतक है, भविष्य अभी अज्ञात है, उसका अभी जन्म ही नहीं हुआ है और वर्तमान के क्षण में हम हरेक चीज का तत्काल परिणाम चाहते हैं। गुणात्मकता के ऊपर गणनात्मकता हावी हो जाती है। 2600 वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने कहा था–**काले कालं समायरे**–अर्थात सब चीजें समय पर करो। यह सूत्र केवल आध्यात्मिक जीवन

जीने के लिए ही आवश्यक नहीं है, अपितु एक स्वस्थ जीवन जीने के लिए भी अनिवार्य है। कुप्रबंधन जीवन को संघर्षमय (कष्टमय) बना देता है। यदि रोजमर्रा की केवल चार क्रियाओं को–मध्याह्न भोजन, रात्रि-भोजन, सोना और जागने को नियमित कर लिया जाता है तो बाकी की क्रियाएं स्वयं ठीक हो जाएंगी। समय की गड़बड़ी शारीरिक घड़ी को अस्त-व्यस्त बना देती है जिसके परिणामस्वरूप शरीर के स्राव असंतुलन पैदा करते हैं और फिर उसकी अभिव्यक्ति हमारे व्यवहार में स्पष्ट प्रकट होने लग जाती है।

संसाधनों का प्रबंधन (समायोजन)

यह सही है कि आर्थिक स्वतंत्रता आपके आधार-भूत अन्य संसाधनों की पूर्ति एवं योजना बनाने में आवश्यक होती है, परंतु आज की क्रेडिट कार्ड की संस्कृति ने हममें से अधिकांश लोगों की स्थिति मुंशी प्रेमचन्द की कहानी में वर्णित उस किसान जैसी कर दी है जो कर्ज में पैदा होता है, कर्ज में जीता है और कर्ज में ही मर जाता है।

एक ओर खर्च करने की सीमित क्षमता और दूसरी ओर अपने रहन-सहन (जीवन) के स्तर को और ऊंचा करने की असीमित आकांक्षा ने मनुष्य में असुरक्षा और भय की भावना पैदा कर दी है। 'जितनी चादर हो, उतना पांव पसारो' वाली कहावत अब दकियानूसी लगने लगी है। यह मध्यमवर्गीय चिंतन माना जाने लगा है। इसने 'बचत नहीं, खर्च करो' की संस्कृति को लाकर खड़ा कर दिया है। एक स्वप्नद्रष्टा व्यापारी वर्ग के लिए यह सही है कि शांति कुछ अंश तक समृद्धता पर निर्भर करती है। एक दिवालिया व्यक्ति हमेशा चिंतित ही रहेगा।

आप देखें, परीक्षण करें कि आपके पास जो संसाधन हैं क्या वे आपकी शांति, खुशी और स्वस्थता को बढ़ाने वाले हैं? अपने आप से पूछें कि 'आप क्या चाहते हैं?' के स्थान पर 'आपकी जरूरतें कितनी हैं?' रिचर्ड बैंडलर ने कहा था–'जो कुछ आपके पास है, यदि आप उसका भरपूर आनंद नहीं ले सकते हैं तो और अधिक मिलने पर भी आप आनंद नहीं ले पाएंगे।'

संबंधों का प्रबंधन

पिछले कुछ दशकों से बढ़ते हुए आर्थिक विकास, भौतिकवादिता एवं रुचियों के मतभेदों ने मानवीय संबंधों को पीछे धकेल दिया है। प्यार, दया आदि भावनाएं तो अब उपन्यास की बातें लगने लगी हैं।

शांति हो, समायोजन हो–ये घर से ही प्रारंभ होने चाहिए। अपने पारिवारिक संबंधों की कीमत पर प्राप्त की गई व्यावसायिक उपलब्धि (उत्कृष्टता) आपके जीवन में स्थाई शांति नहीं ला सकती। उस सफलता का क्या महत्त्व जिसकी कीमत एक अप्रसन्न परिवार के रूप में चुकानी पड़े। खुशी का आधार है–अपने परिवार के साथ समय बीताओ, आपस में शांति, सह-अस्तित्व और खुशी को बांटों, जिसके बदले में आपको मिलेगा बगैर किसी शर्त का प्यार, निःस्वार्थ वात्सल्य। यह एक-दूसरे को जानने, समझने, निःस्वार्थ भाव से देखभाल करने तथा एक-दूसरे की समस्या का समाधान करने का विशिष्ट उपहार है। आप इन्हें दूसरों को दें, और इसे अपने स्वयं से प्रारंभ करें। फिर देखें कि ये कई गुणा होकर आपके पास स्वतः लौट कर आएंगे।

ऊर्जा-प्रबंधन

सभी सफल एवं प्रसन्न व्यक्तियों का जीवन उच्च स्तरीय ऊर्जा से आप्लावित रहता है। उन्होंने ऊर्जा को अर्जित करने, उसे सुरक्षित रखने तथा उपयोग करने के गुर सीख लिए होते हैं। ऊर्जा का मूल प्राण शक्ति अथवा Physic Energy है जिसका वास्तविक अर्थ चेतना है और आध्यात्मिक दृष्टि से उसका अर्थ पवित्र आत्मा से है। प्राण-शक्ति ऑक्सीजन से, शरीर के लचीलेपन से, विचारों की स्पष्टता से तथा भावों की शुद्धता से मिलती है। तेजी से बहती हुई नए युग की सभ्यता ने इन सबको समाप्त प्रायः कर दिया

है। Because of man getting insulated from sunlight and nature। क्षीण होता हुआ ऊर्जा का प्रभाव शरीर और मन, दोनों पर पड़ता है, मनुष्य को तनाव-ग्रस्त बनाता है और कभी-कभी असामयिक मृत्यु का कारण बन जाता है। इसीलिए थोड़ा धीमे चलें।

प्राण-ऊर्जा कई बिंदुओं से निसृत होती है। बोलना सबसे बड़ा दुश्मन है इसलिए आत्मसाक्षात्कार से पहले बहुत से साधक गहरे मौन में चले जाते हैं, प्राण-ऊर्जा को बढ़ाते हैं और उसे सुरक्षित रखते हैं जिससे आशातीत आत्म-शक्ति जाग्रत हो जाती है।

मानसिक स्वास्थ्य का प्रबंधन

सही दृष्टिकोण और सकारात्मक सोच हमारी क्षमता को बढ़ाते हैं और यही हमारी संपूर्ण रूप से स्वस्थता के रूप में परिणत हो जाती है। नकारात्मक सोच का सीधा संबंध बीमारी के रूप में आता है और स्थूल रूप में शरीर के विभिन्न अंगों तथा क्रिया-कलापों पर कई तरीकों से इसका प्रभाव पड़ता है। जैसे–

- धोखाधड़ी हृदय के कार्य को प्रभावित करती है।
- भय रक्तचाप को बढ़ाता है और इसकी अत्यधिकता पक्षाघात का कारण भी बन जाता है।
- तनाव गैस की बीमारी पैदा करता है।
- घृणा हमारे चेहरे पर अभिव्यक्त होती है जिससे पूरा शरीर बदरूप बन जाता है।
- क्रोध से ऊर्जा का क्षय होता है।
- ईर्ष्या ऐसिडिटी को बढ़ाती है।
- चिंता मधुमेह का कारण बनती है।
- Hypertension एवं चिंता से अल्सर की बीमारी होती है।

लक्ष्य प्रबंधन

अभिधम्म सूत्र, जिसमें 500 ईसा वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध की प्रथम शिक्षा का वर्णन है, के अनुसार–'यदि किसी क्रिया का भाव बुरा है, द्वेष-पूर्ण है और लोभ-युक्त है, वह क्रिया अनैतिकता मानी जाती है, चाहे देखने वाले को उसका व्यवहार भोला-भाला लगता हो। यद्यपि कोई क्रिया अपने आप में अनैतिक नहीं है परंतु उसमें निहित भाव उसे वैसा बना देते हैं। मानसिक भाव ही किसी क्रिया को अच्छा या बुरा, नैतिक अथवा अनैतिक बनाता है।' अभिधम्म सूत्र में लिखा है कि यदि कोई क्रिया बुरे विचार से प्रेरित है तो वह निश्चित रूप से दुःख देने वाली होगी।

जैन धर्म में कर्म सिद्धांत के अनुसार यदि कोई भी क्रिया सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र से प्रेरित है तो निश्चित रूप में शुद्ध होगी।

यह एक मान्य तथ्य है कि मन और शरीर के साथ स्व का तादातम्य आक्रोश, तनाव और दुःख को पैदा करने वाला है। संक्षेप में मानव अस्तित्व में ही दुःख का कारण है। अपने 'स्व' के साथ जुड़ा तादातम्य भाव ही शांति, संतुलन, संतोष और आंतरिक आनंद देने वाला होगा। ❐

अध्यात्म की पहचान है :

शांति, सहिष्णुता, ऋजुता, मृदुता, सम्यक्-दृष्टिकोण, अनाक्रमण, सहअस्तित्व, विरोधी विचारों में सामंजस्य बिठाने की क्षमता, समता, अंतहीन आकांक्षाओं का सीमांकन और उदात्त आचार।

अच्छे बुरे की तुलना

शंकरलाल मेहता (बाबूजी)

क्या आप अपनों के नाम कभी पत्र लिखते हैं? सुख-दुःख की भावनाएं आपस में बांटते हैं? आपसी संवाद के लिए समय निकालते हैं? अपनों के बीच संस्कारों की सुगंध बिखेरते हैं? यदि ऐसा नहीं करते हैं तो बाबूजी का अपने पोते के नाम लिखा पत्र पढकर अवश्य शुरुआत करें, क्योंकि पत्रों की भाषा में सिमटा है संस्कार और संस्कृति का जीवन दर्शन।

कई दिन से तुम्हें पत्र लिख न सका। तुम इंजीनियरिंग संकाय की प्रवेश परीक्षा हेतु तैयारी में लगे हुए थे। मैंने सोचा इस बीच दूसरी बातों की ओर तुम्हारा ध्यान आकृष्ट न करूं। अब तुम परीक्षा दे चुके हो। तुम्हारे पिता के पत्र से ज्ञात हुआ कि तुमने अच्छा प्रयास किया है। किंतु वहां तो प्राप्तांकों से ही वरीयता का क्रम बनता हैं। बिंदु! कोई अच्छाई और विद्वत्ता का क्या अहम करे? यह पता लगता है कि प्रथम श्रेणी में किसका क्या क्रम है? बोर्ड की परीक्षा से प्राप्त श्रेणियां तो काम की ही नहीं रहतीं। विशेष विषयों के अध्ययन में रुचि रखने वाले कड़े परीक्षण से गुजरते हैं। इन परीक्षणों में पक्षपात न रहे तो प्रतिभाएं छन-छन कर आगे आती हैं।

व्यवसाय में लगे हमारे लोग अपने बच्चों को प्रशासनिक और अन्य अच्छी सेवाओं में जाने के लिये प्रेरित नहीं करते। तुम्हारे पिता का अपना मुद्रणालय है। चाचा की दुकानें हैं। अच्छा खासा काम है उनमें, और कई लोगों की तरह तुम्हें भी अपने साथ काम पर लगा सकते थे, किंतु उनका यह सोचना कितना सही है कि आजीविका के साथ-साथ समाज और देश की अच्छी सेवा के अवसर भी मिलने चाहिए। संस्कारित परिवारों के सुशील युवक यदि प्रशासनिक सेवाओं में रहेंगे तो उन सेवाओं में काफी सुधार आयेगा।

मैं जातीयता अथवा किसी अन्य घेरे का पक्षधर नहीं हूं। देश की स्वतंत्रता के बाद अनुसूचित जाति और जनजाति के युवकों को अध्ययन और नौकरी में निर्धारित प्रतिशत पर अच्छे अवसर मिलने लगे हैं। एक बार डॉक्टर अंबेडकर की जयंती समारोह में मुझे आमंत्रित किया गया था। कई वक्ताओं के कहने में रोष था कि सदियों से हमें दबाकर रखा गया है। कुछ तो किसी न किसी रूप में यह कहने में भी नहीं हिचके कि अब हिसाब चुकता करेंगे। मुझे बोलने का अवसर मिला तो मैंने कहा–जो गलती सवर्णों ने आज तक की है। उसे आप मत दोहराना। वह गलती थी–अहंकार, जिसके कारण उन्होंने मनुष्य-मनुष्य में भेद जाना। स्वयं को उच्च और दूसरे को हीन माना। आप सेवा भावना से यदि सबका कार्य करेंगे तो लोग जाति का विवाद भूल जाएंगे। अन्यथा शोषण और अन्याय समाप्त नहीं होगा। मात्र उसके शिकार कोई दूसरे हो जाएंगे।

इस बात को लोगों ने पसंद किया। बिंदु! यह बात कितनी सच है कि प्रतिक्रिया से कोई भी स्थिति बदलती नहीं। हिंसा को हिंसा से दबाने की बात जैसे अधिकतर कारगर नहीं होती, वैसे ही अन्याय भी अन्याय से कैसे दबेगा। मनुष्य मनुष्य के बीच संघर्ष की स्थितियां इसलिये प्राचीन काल से बनी हुई हैं। तीर्थंकर महावीर ने इसे अच्छी तरह समझा था और उन्होंने कर्म के आधार पर ही मनुष्य को उच्च और नीच की संज्ञा दी, न कि जन्म के आधार पर।

मेरी इच्छा है, तुम राष्ट्र की अच्छी सेवा करो। तुम निजी लाभ से ऊपर उठकर प्रामाणिकता और ईमानदारी से कार्य करो। मैं लगभग, चालीस वर्ष रेल सेवा में रहा। मुझे काफी संतोष है। मैं क्षतिपूर्ति विभाग के महत्त्वपूर्ण दावा-सत्यापन कार्य पर रहा। उससे पूर्व टिकट अथवा माल के कार्य पर रहा। किसी पद को मैंने छोटा नहीं समझा। निष्ठापूर्वक सेवा करने में मुझे सदा आनंद और संतोष मिला। मैंने हर संभव उचित सहयोग किया और अधिकारी एवं रेल उपभोक्ताओं का विश्वास प्राप्त किया। आज सेवा निवृत्ति के पांच वर्ष बाद भी उसकी स्मृति से मन को प्रसन्नता होती है। जो सम्मान मिलता रहा और अभी भी मिलता है, उसकी तुलना में अन्य तुच्छ लाभ कहां ठहर सकते थे?

तुम शायद इस चर्चा को सामयिक मानो। अभी तो तुम पढ़ रहे हो। किंतु संस्कार-निर्माण तो किसी भी समय हो सकता है। आज तुम्हारे बीच इससे विपरीत धारणा वाले युवक भी होंगे। उनके गलत और स्वार्थी विचार कहीं तुम्हारे संस्कारों को प्रभावित न करें। आज देखा-देखी क्या नहीं हो रहा है? अधिकांश इस समय जिस प्रकार का जीवन जी रहे हैं, क्या वह उपयुक्त है? क्या हमारी संस्कृति के साथ जुड़ी अनेक बातें मात्र इसलिये छोड़ने योग्य हैं कि उनसे हमारी स्वच्छंदता पर अंकुश लगता है। जानवर भी अपने शिशुओं को खतरे की ओर बढ़ने से रोकते हैं। तुम सुशील हो। मुझे तुम पर गर्व है। कभी-कभी सोचता हूं कि बचपन में मैंने कुछ भूलें की थीं, उनसे तुम अछूते रहो। हर पिता और दादा यही चाहते हैं कि उनके पुत्र और पौत्र उन गलत बातों को न दोहराएं जो उन्होंने भूल, संगत, आवेश या अन्य दुर्बलता के कारण की थीं। बिंदु! तुम जिस रास्ते पर बढ़ रहे हो, उसे हम काफी तय कर चुके हैं। जीवन मार्ग पर कोई आगे तो कोई पीछे। कोई यात्रा प्रारंभ कर रहा है तो कोई समाप्त। इन स्थितियों को जन्म-मृत्यु अथवा आयुभेद से बचपन, किशोरावस्था, युवावस्था, और वृद्धावस्था में बांट रखा है। आगे निकल चुके व्यक्ति यदि पीछे चलने वालों को सावधान करें तो बुरा ही क्या है? क्या तुम अपनी ही उम्र का अध्यापक भी ला सकते हो? मैं यह सब इसलिये लिख रहा हूं कि मेरी दृष्टि में पीढ़ी टकराव की आवश्यकता नहीं है। यदि हम इतना समझ लें तो। तुम्हें शायद याद न हो। तुम छोटे थे। कमरे में एक ओर बैठकर तुमने स्विच ऑन कर इस्तिरी को तकिये पर रख दिया। मैं काम में व्यस्त था। जलने की गंध ने मुझे चौकन्ना किया। तुम्हारी कार्यवाही ध्यान में आयी। मैंने स्विच ऑफ किया। तकिया काफी जल चुका था। तुम्हें वहां से उठाया। तुम काफी भयभीत थे। तुम्हें स्विच ऑफ करने की बात ध्यान में नहीं थी। समस्या सच पूछो तो यही है। आग लगाना बहुत से जानते हैं किंतु बुझाना नहीं। खैर, तुम्हें थोड़ा डांटा तो तुमने रुआंसी किंतु दृढ़ आवाज में मुझसे पूछा, 'क्या आप मुझे मारेंगे?' मेरा मारने का इरादा था भी नहीं। मेरा विश्वास समझाने में है। स्वयं जीकर संस्कार देने में है।

यह घटना मेरी स्मृति से जाती नहीं। उस दिन मुझे लगा कि तुम छोटे हो तो क्या? भेद कहां है? तुम भी मानव हो और मैं भी। भेद तो मात्र आयु का है। जीवन में व्यक्ति का सम्मान करना हमें समझना होगा। पर आज के युवक अपने ही हाथों बदनाम होते हैं। शालीनता ताक पर रख देते हैं। आज की बात है। मैं प्रातः भ्रमण और गुरुदर्शन कर साधना भवन लौट रहा था। पांच किशोर सामने लॉन में बैठे थे। संयोगवश पांच किशोरियां पास ही सड़क से निकलीं। लड़कों में से एक बोला—दो-दो पांच और सभी खिलखिलाकर हंसे।

वे किशोरियां चुपचाप पास से चली गईं। आज आम धारणा बनी हुई है कि कौन इनसे सिर लगाए। मैंने सुना तो उनको यह कहता हुआ निकल गया–टू थ्री बराबर जीरो। जहां शालीनता नहीं है वहां पांच हों, चाहे पचीस, 'जीरो' नंबर ही मिलेगा।

छोटी-छोटी बातें हैं लेकिन सिखाती बड़ी बातें हैं। हरदम ऐसे लड़कों से सावधान रहना होगा। बहिनें छत पर आसन करती हैं तो उन्हें ताकेंगे। इधर-उधर आवारागर्दी में घूमेंगे। क्या ये सब शोभनीय हैं युवकों के लिए? पर नहीं, वे इसमें अपनी शान समझते हैं। अपने परिवार में सब बच्चे सुशील हैं। तुम्हारे छोटे भाई मेरे साथ यहां रह कर गए। कितनी अच्छी स्मृतियां छोड़ गये हैं। सब याद करते हैं। वे स्वयं अपना कमरा, वस्त्र, बर्तन साफ रखते थे। बगीचे में भी काम करते थे। खरगोशों और मोरों के पीछे भागते भी थे। इस भाग-दौड़ में चुभे कांटे निकालते। सब से कहता कि ऐसे क्यों भागते हो। पर वे तो प्रकृति और वातावरण का सही आनंद लेते हैं।

अच्छे और बुरे की तुलना करें। अच्छे लड़के सबका मन जीतते हैं। बुराई इलास्टिक होती है। बढ़ती ही जाती है। कुछ दिन पहले हमारा चौकीदार बता रहा था कि भले वैश्य घरों के लड़कों ने गांव के बाहर फलां के घर जाकर शराब पी। मांस खाया। लड़े, झगड़े और मां-बाप का नाम उजागर किया। सुनकर दुःख हुआ। एक उत्तर है ऐसे लोगों के पास। क्या ऐश मौज नहीं करें? हमसे बड़े भी तो कई करते हैं? अनुकरण के लिये क्या हमारे पास अच्छे जीवन कम हैं? पर उनका अनुकरण नहीं होता। और बिंदु! अधिकांश इन अनमोल श्वासों को व्यर्थ खर्च कर समाप्त कर देते हैं। पैसे का हिसाब रख लेते हैं, श्वासों का नहीं। कई तो निमित्तों और असफलताओं में इतने असंतुलित हो जाते हैं कि स्वयं को समाप्त कर देते हैं।

एक बात और भी इन दिनों बढ़ रही है। विवाह जैसे पवित्र बंधनों को भी खेल में बदलते जा रहे हैं। कई ऐसी शादी-शुदा बहिनें हैं, जिन्हें उनके पतियों ने छोड़ दिया है। न छोड़ा है तो कहीं दूर रहने लग गए है और दायित्व वहन नहीं करते। उन बहिनों में से कई छोटे-छोटे काम करने को विवश हैं, तो कई दूसरी शादी की कोशिश करती हैं। कुछ ऐसी बहिनें साधना में भी लग जाती हैं। दहेज के कारण होने वाली घटनाओं को तो तुम प्रायः सुनते-पढ़ते हो। हमारे घरों में दूसरे घर से आई बच्ची (जिसे पत्नी या बहू के रूप में लाते हैं) त्रासदी का जीवन जीती हो और हम सभ्यता की डींगें हांकें। कैसे चलेगा समाज? अपने घर का मधुर स्नेहमय वातावरण कितना प्रिय लगता है। मेरे और तेरे पिता के चाचा के परिवार को मिलाकर लगभग तीस सदस्य हैं। एक साथ रहकर आनंद का जीवन जीते हैं। पर यह सब तभी संभव है जब सब एक-दूसरे का दुःख-दर्द बांटें, सहिष्णुता रखें। तुम्हारी दादी का देहांत तो तभी हो गया था जब तुम्हारे पिता की शादी भी नहीं हुई थी। किंतु उसकी चाची ने सब कुछ संभाल लिया। तुम ही तो, पिछली बार मैं घर आया तब कह रहे थे कि चाचीजी और उनके बच्चे पीहर चले गए तो घर में अच्छा नहीं लगता।

पत्र काफी बड़ा हो गया है। जीवन-पुस्तक के पृष्ठ तो न जाने क्या-क्या संदेश देते हैं। समय-समय पर तुम्हें लिखता भी रहा हूं। तुम आना चाहते हो। गुरुदर्शन करने हैं। आ जाओ। अभी न आ सको तो युवकों के सम्मेलन में आना। देश के कोने-कोने से सहधर्मी युवक आयेंगे। हम सोचेंगे प्रगति के बारे में। हमारी अलग से पहचान बने। हम कैसे एक-दूसरे की प्रगति में सहयोगी बनें?

हमारा जीवन एक मिसाल बने। बुरों को धरती पर हावी न होने दें। ❒

विनायक विनोबा बने

मीरा

1. पहली मुलाकात

1996 की सातवीं जून। प्रात:काल की मंगल वेला। अहमदाबाद के कोचरब-आश्रम में बंगाल की क्रांति और हिमालय की शांति का सपना देखने वाला युवक–विनायक गांधीजी के आश्रम में पहुंचा। 'गांधीजी कहां हैं?'–पूछते-पूछते वह गांधीजी के पास पहुंचा तो देखा कि वे बैठे-बैठे सब्जी काट रहे हैं।

विनोबा कहते हैं कि बापू के प्रथम दर्शन में ही मुझे श्रम का पाठ मिला। बापू ने सब्जी काटते हुए ही मेरे निजी जीवन के बारे में पूछताछ की। फिर कहा–'यदि तुम्हें यहां का रहन-सहन अच्छा लगता हो और अपना जीवन तुम सेवा-कार्य में लगाना चाहते हो तो यहां रहो। मुझे इससे खुशी होगी।' मेरी ब्रह्म-जिज्ञासा उन्होंने परख ली थी। बोले–'लेकिन, तुम बहुत दुर्बल दीखते हो। आत्मज्ञानी साधारणत: शरीर से कमजोर रहते हैं, परंतु तुम तो बीमार दीखते हो। आत्मज्ञानी कभी बीमार नहीं पड़ते।'

विनोबा को यह दूसरा पाठ मिला। कहते हैं–'बापू की यह बात मैं कभी भूल नहीं सकता। रोग होना योग की कमी है। सच्चा योगी कभी रोगी नहीं हो सकता।'

इस तरह से पहली मुलाकात में ही परस्पर आकर्षण, स्नेह और आदर पैदा हुआ और विनोबा को महसूस हुआ कि अब मेरा हिमालय इन्हीं चरणों में है।

2. विनोबा के पिता को बापू का पत्र

आश्रमवासी बनने के बाद एक दिन बापू ने विनोबा से उनके परिवार के बारे में विस्तार से सारी जानकारी पूछी। बापू को जब यह पता चला कि गृह-त्याग के बाद, एक पत्र को छोड़कर और कोई समाचार विनोबा के घर पर नहीं पहुंचा है, तब बापू ने कहा–'तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी चिंता करते होंगे। उनको कुशल समाचार देते रहना पुत्र का धर्म है। उनको इस प्रकार वंचित रखना, यह एक प्रकार से हिंसा ही है।'

और अहिंसा के उस महान आचार्य ने विनोबा के पिताजी को पत्र लिखा–'आपका विनोबा मेरे पास है। इतनी छोटी-सी उम्र में आपके पुत्र ने जो तेजस्विता और वैराग्य प्राप्त कर लिया है, उसे प्राप्त करने में मुझे कई वर्ष लग गये थे।'

आश्रम में आते ही विनायक 'विनोबा' बन गया था। उसकी संत-प्रकृति देखकर मराठी ढंग पर बापू ने ही उसके विनु नाम के पीछे 'बा' लगाकर 'विनोबा' कर दिया, जैसे विठोबा, ज्ञानोबा।

साधक—पहली नजर में विनोबा सत्याग्रह-आश्रम में जब पहुंचे, उस समय शारीरिक श्रम की उन्हें उतनी आदत भी नहीं थी और आता भी नहीं था। कभी कुछ खास काम किया ही नहीं था, उसमें रुचि भी नहीं थी। परंतु आश्रम में प्रवेश करते ही प्रत्यक्ष बोध-पाठ मिला। सब्जी काटते-काटते पहले दिन बापू से जो बातें हुईं, सो हुईं, उसके बाद सिर्फ काम की बातें होती थीं। बाकी समय विनोबा अपने काम में खोये रहते थे।

बापू को मालूम था कि इस लड़के में क्या-क्या गुण भरे हैं, लेकिन दूसरे लोगों के लिए तो वह एक सामान्य व्यक्ति था। एक दिन बापू किसी से कह रहे थे–'यह तो गौण भाषा है।' विनोबा बीच में ही बोल उठे–'नहीं, यह भक्ति की भाषा है।' बापू खुश होकर कहने लगे–'बिलकुल सही है, तुम्हारी बात। ज्ञान की भाषा और भक्ति की भाषा।' तब सबको लगा कि अरे, यह शख्स सब कुछ समझता है। पहले सबको लगता था कि यह कोई जड़ आदमी है। उस दिन से सब विनोबा की फिक्र भी करने लगे और लोगों ने उनसे संपर्क बढ़ाना भी शुरू कर दिया। पर विनोबा आज भी कहते हैं कि 'साधक तो सामान्य ही लगना चाहिए।'

3. आत्मा अमर, देह नश्वर

'देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता' के गीता-संदेश को आत्मसात करने वाले विनोबा के जीवन का यह प्रेरक प्रसंग भी स्मरणीय है :

विनायक 'विनोबा' का नाम पाकर बापू के आश्रम में रहते थे। साबरमती के किनारे स्वराज्य के सैनिकों की कड़ी साधना चल रही थी। बापू के चरणों में हिमालय पाने वाले विनोबा की भी कर्म, ज्ञान और भक्ति की अखंड साधना चलती थी।

एक दिन, सुबह साबरमती नदी में विनोबा नहा रहे थे कि नहाते-नहाते वे आगे बढ़ते गये। देखते-देखते वे नदी के प्रवाह में खिंचने लगे। धरती से पांव हटते ही विनोबा वास्तविकता को पहचान लेते हैं। तैरना आता नहीं, किनारे पर से कोई मनुष्य बचा सकता नहीं, तेज धार में मुट्ठी भर हाड़-चाम को ढूंढ़ना भी असंभव। किनारे पर खड़े लोगों का ध्यान जाता है। वे चिल्ला उठते हैं : 'विनोबा डूब रहे हैं, कोई बचाओ-बचाओ......

एक नरपुंगव 'मुझे बचाओ, बचाओ' का शोर न करते हुए जोर से कहता है–'बापू को कहना कि विनोबा जाता है। आत्मा अमर है, देह नश्वर है। आत्मा अमर है, देह नश्वर है!...' देह तो घसीटा हुआ जा रहा है, परंतु 'मेरे तो मुख राम-नाम, दूसरा न कोई, आत्मा अमर है, देह नश्वर है।'

ईश्वरेच्छा से, पानी में बहते-बहते बीच में एक छोटी-सी टेकड़ी आ गयी और घिसटता हुआ शरीर वहीं अटक गया। कालदूत फिर से एक बार कान में गुनगुनाकर चला गया। परंतु यहां तो न मृत्यु का डर है, न जीवन की लोलुपता। यां यूं भी वाहवा है और वूं भी वाहवा है! साबरमती के किनारे खड़े हुए, डरे हुए आश्रमवासियों ने देखा और सुना कि टेकड़ी पर अटका हुआ शरीर एक ही वेद-वचन बोल रहा है–'देह नश्वर है, आत्मा अमर है।'

4. प्रार्थना में उपस्थिति

आश्रम के प्रांगण में रोज सुबह-शाम बापू के सान्निध्य में प्रार्थना होती थी। सब आश्रमवासी प्रार्थना में हाजिर रहें, ऐसा बापू का आग्रह था। प्रातः प्रार्थना में जिन्हें नींद आती थी। उन्हें बापू का आदेश था कि वे खड़े-खड़े प्रार्थना करें, जिससे उनकी नींद खुल जाये। प्रार्थना में रोज सबकी हाजिरी ली जाती थी। मगनभाई गांधी हाजिरी लेते थे। जो हाजिर रहते थे वे 'ओऽम्' बोलते थे। सबसे पहले बापू का नाम लिया जाता था।

एक बार मगनभाई ने हाजिरी लेने के बाद कहा कि पंद्रह लोग हाजिर हैं। विनोबा ने तुरत खड़े होकर

जगद्वन्द्यः स्वामी विशदचरितो नाम तुलसी

कहा–'प्रार्थना में पंद्रह नहीं, चौदह लोग हाजिर हैं।' मगनभाई ने फिर से गिना तो पंद्रह ही हाजिर थे। बापू ने कहा–'विनोबा गणितज्ञ है। जरा फिर से गिन लो।' मगनभाई ने फिर एक बार गिना, पंद्रह ही थे। फिर बापू ने पूछा–'क्यों विनोबा, क्या रहस्य है?'

विनोबा ने कहा–'बापूजी! सदेह तो पंद्रह लोग हाजिर हैं, परंतु जिनको हाजिरी लेनी है उनका मन हाजिरी लेने में होने से वे देह से प्रार्थना में हाजिर होते हुए भी, मन से तो गैर-हाजिर हैं न? इसलिए मैंने कहा कि प्रार्थना में पंद्रह नहीं, चौदह हाजिर हैं। बापू! ऐसी हाजिरी लेने का क्या अर्थ है?'

बापू ने कहा–'एक तो वे काम करते हैं तो कर्म ही प्रार्थना हो गयी। दूसरा जब अपना नाम लिया जाता है तब हम 'ओऽम्' में जवाब देते हैं। उसका अर्थ इतना ही है कि हम उस वक्त जागृत होकर भगवान से कहते हैं कि 'प्रभो! तुम्हारे दरबार में मैं मनसहित हाजिर हूं'।'

यह प्रसंग सुनाते समय विनोबा कहते हैं–'चिंतन-मननप्रधान ईश्वर-आराधना में तमोगुण का डर रहता है। तमोगुण में जड़ता, आलस्य, बेजवाबदारी और स्वच्छंदता आती है। इसलिए प्रार्थना में निरंतर जागृति चाहिए। विवेकानंद का एक प्रसंग है। प्रार्थना में एक बार उन्होंने अपने शिष्यों को नहीं देखा, तब से उन्होंने नियम बनाया कि गैर-हाजिर शिष्यों को अपनी भिक्षा खुद मांगनी होगी। लोगों के समक्ष जाने में साधक को जागृत रहना पड़ता है। इस तरह से उन्होंने शिष्यों के तमोगुण को दूर किया। प्रार्थना में तमोगुण न रहे, इसकी सावधानी रखनी पड़ती है।'

❑

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती

एक संपूर्ण पत्रिका है।

वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती

पढ़ें–सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक

जैन भारती

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथ भवन

महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

अवधू! सदा मगन में रहना!

प्रियदर्शन

तेरी कुशलता के समाचार मिले, प्रसन्नता हुई। मैं भी प्रसन्न हूं। तू जानता है कि मेरे से तपश्चर्या नहीं होती है और अभी 'योगोद्वहन' में मैं तपश्चर्या कर रहा हूं, इसलिये तुझे चिंता होना स्वाभाविक है। परंतु चिंता मत करना, किसी प्रकार की शारीरिक-मानसिक व्यथा के बिना और तन-मन की प्रफुल्लता के साथ तपश्चर्या हो रही है। 'योगोद्वहन' की विशिष्ट क्रियाएं भी सुचारु रूप से हो रही हैं।

प्रात:काल, मध्याह्न और सायंकाल... प्रसन्नता के पुष्प खिलते रहते हैं। दीनता, उदासीनता... विकलता... मानो पलायन ही हो गये हैं! उस कवि ने कहा है न... **अवधू! सदा मगन में रहना!**

अभी मग्नता है। ज्ञानमग्नता है। कुछ ऐसी गुत्थियां सुलझ रही हैं मन की, कुछ ऐसा तत्त्व-प्रकाश प्राप्त हो रहा है... इससे अपूर्व आंतर आनंद अनुभव कर रहा हूं। जिस तरह प्राकृतिक दृश्य सूरज की रोशनी के अनुसार अपना रूप ग्रहण करते हैं उसी तरह हमारा आंतर आनंद भी तत्त्व-प्रकाश से वृद्धि पाता है। बाह्य अपदार्थ और बाह्य व्यक्ति पर अब आनंद निर्भर नहीं रहा। प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूल पर अब आनंद आधारित नहीं रहा।

वर्षों तक यह मेरी उलझन बनी रही। प्रिय और अनुकूल के संयोग में आनंद अनुभव करता था, अप्रिय और प्रतिकूल के संयोग में विषाद होता था। प्रिय के वियोग में उदासीनता घेर लेती थी। इससे.... उदासीनता से मुक्ति पाने को मन वर्षों से तड़पता था। प्रिय-अप्रिय में सम स्थिति चाहता था चित्त की। तप-त्याग और ज्ञान-ध्यान से भी मैं यही सम स्थिति प्राप्त करना चाहता था... परंतु असफल रहा प्रिय और अनुकूल स्थिति ने मुझे जहां हंसाया था... अप्रिय और प्रतिकूल स्थिति ने मुझे रुलाया भी है। मैं हमेशा मेरी यह कमजोरी मानता रहा। मेरी विवशता समझता रहा... परंतु 'ज्ञानसार' के अनुतिन ने मेरी कमजोरी को मिटा दिया है। मेरी विवशता को नष्ट कर दिया है। परमात्मा ने मानो कि मेरी पुकार सुन ली है। परमात्मा की अचिंत्य कृपा के बिना मात्र चिंतन-अनुचिंतन से मेरी दीनता... उदासीनता दूर नहीं

हो सकती थी। मैं कई वर्षों तक परमात्मा से प्रार्थना करता रहा हूं। मेरी प्रार्थना मानो कि सुन ली गई है। मुझे इससे अत्यंत प्रसन्नता है।

सच्चे हृदय से की हुई परमात्मा-प्रार्थना निष्फल नहीं जाती है, इसका मुझे अनुभव है। देर हो सकती है परंतु गलत नहीं है। परमात्मा से उनकी ही आज्ञाओं का पालन करने की क्षमता प्राप्त करने की प्रार्थना करना सर्वथा उचित है। चित्त की समस्थिति रखना, उनकी ही आज्ञा है। उनकी परम कृपा से उस आज्ञा का पालन संभव है। इसलिए तुझे भी मैं यही कहता हूं कि तू प्रार्थना के द्वारा तेरी चित्त-स्थिति को सम बनाने का प्रयत्न कर।

अभी अभी... थोड़े दिन पूर्व एक प्रश्न का स्वयंभू समाधान प्राप्त हुआ। मनुष्य को एक बहुत पुरानी आदत है कि वह दूसरों के पाप देखता है और अपने दु:ख देखता है। दूसरों के पाप देखकर उनके प्रति द्वेष, तिरस्कार और धिक्कार जैसी मनोवृत्ति धारण करता है और अपने दु:खों पर रोता फिरता है। अपने दु:खों को दूर करने के लिए अनेक पापाचरण भी करता है... फिर भी वह पाप तो दूसरे मनुष्यों के ही देखता है। इससे वह सदैव अशांत, अस्वस्थ और व्याकुल बना रहता है।

यदि मनुष्य को शांति, स्वस्थता और प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करना है तो उसको यह आदत बदलनी होगी। उसको पाप अपने स्वयं के देखने होंगे और दु:ख दूसरों के देखने होंगे। दूसरों के पाप देखे नहीं और अपने दु:खों को भी देखे नहीं, तो शांति का मार्ग मिल जाये। धर्म का मार्ग मिल जाये।

दूसरों के दु:ख देखने से उसके हृदय में दया और करुणा उभरेगी। अपने पाप देखने से पश्चात्ताप होगा और पापमुक्त होने के विचार आयेंगे।

परंतु यहां एक प्रश्न पैदा होता है। दूसरों को... जिनकी हमारे पर जिम्मेदारी होती है, उनके पाप नहीं देखें तो उनको कैसे सुधारेंगे? उनको पापों से कैसे बचायेंगे? यदि उनको नहीं बचाएं तो जिम्मेदारी का पालन नहीं होगा।'

आश्रितों के पाप देखे जा सकते हैं, परंतु उनके प्रति द्वेष नहीं होना चाहिए। बीमार को डॉक्टर देखता है... परंतु बीमार के प्रति रोष नहीं करता है। प्रेम से उसका निदान करता है और दवाई देता है। रोग शरीर के हैं तो पाप आत्मा के हैं। शरीर से रोगी के प्रति करुणा से उसको समझाया जाये और पापमुक्त करने के उपाय बताए जाएं। उपाय वह करे तो अच्छा है, नहीं करे तो भी उसके प्रति धिक्कार की भावना मत रखो।

किसी की भी जिम्मेदारी इतनी सख्त रूप से अपने सिर पे मत ले लो कि जिससे आप व्याकुल बन जाओ। वास्तव में हर मनुष्य की जिम्मेदारी उसकी स्वयं की है। अपन तो फालतू ही सारी दुनिया की जिम्मेदारी सिर पे चढ़ाये फिरते हैं। 'सब जीव पापमुक्त हो जाये', वैसी भावना रखना उचित है परंतु जो पापमुक्त नहीं बनते हैं, उनके प्रति रोष या क्रोध करना अनुचित है। दुनिया के सारे संबंध एक नाटक के संबंध ही तो हैं। नाटक में जो संबंध दिखाये जाते हैं.... क्या वे सच होते हैं? नहीं। वैसे इस भवनाटक के संबंध भी सच नहीं होते। यह तो मात्र व्यवहार दशा है। निश्चय से तो आत्मा निर्बंध है और अलिप्त है। इस विचार को हृदय में सुरक्षित रखकर जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। मुझे तो मेरी मन:शांति में इस तत्त्वविचार ने अच्छा सहयोग दिया है।

संबंधों के व्यापक बंधन और जिम्मेदारियों ने मनुष्य को इतना मूढ़ बना दिया है कि वह अपने आपको खो बैठा है। जैसे उसका स्वयं का कोई अस्तित्व ही न हो। जो है वह संबंध है। जो है वह दुनिया है। परंतु समझ लेना चाहिए कि संबंधों के लिये अपन नहीं हैं, अपने लिये संबंध है। दुनिया के लिये अपन नहीं हैं, अपने लिये दुनिया है। अपने आपको खो दिया.... तो फिर संबंध किसलिये?

जीवन जीने की कला प्राप्त कर ले। दु:खपूर्ण संसार में भी ज्ञानी पुरुष आनंद से जी सकता है। उसको दु:ख होता है तो दूसरों को दु:खी देख कर। सुखी जीवन जीने के उपाय..... मार्ग होने पर भी जो जीव उस मार्ग

पर नहीं चल रहे हैं और दुःखी होते हैं, उनको देखकर ज्ञानी पुरुषों का हृदय दुःखी होता है। उनको अपने स्वयं के कोई दुःख नहीं होते। वे मानसिक सृष्टि के स्वर्ग में जीते हैं।

जो मनुष्य अपने आपको दुःखी नहीं मानता है, वह स्वर्ग में ही जीता है। जो मनुष्य अपने आपको दुःखी मानता है, वह नरक में जीता है। क्यों जानबूझकर नरक में जीना? स्वर्ग में जीना सीख लो। तत्त्वज्ञान से ही यह संभव है। परमात्मकृपा से ही यह संभव है।

क्या लिखना था और क्या लिख दिया! तेरे पत्र के प्रत्युत्तर तो सबके सब रह गये। और मैंने मेरी बातें ही लिख दीं। यूं तो तेरा पत्र आने से पूर्व ही यह सब लिखना था, परंतु 'परमात्म-प्रतिमा-प्रतिष्ठा' महोत्सव में व्यस्त होने से नहीं लिख सका। तेरे प्रश्नों के उत्तर लिखूंगा परंतु आज नहीं.... आगे लिखूंगा।

'योगोद्वहन' में एक 'कालग्रहण' की विशिष्ट क्रिया करने की होती है। शास्त्र-अध्ययन में 'कालशुद्धि' को कितना महत्त्व दिया है ज्ञानी पुरुषों ने। 'कालशुद्धि' न हो तो शास्त्राध्ययन नहीं हो सकता। भावशुद्धि में 'कालशुद्धि' प्रबल निमित्त माना है। इस विषय में भी चिंतन हो रहा है। श्रमणजीवन में शास्त्राध्ययन को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। शास्त्राध्ययन के लिये तप करना पड़ता है, यौगिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं, कालशुद्धि देखनी पड़ती है। कभी तू यहां आयेगा तब इस विषय में बात करूंगा। है यह थोड़ी गहरी बात, परंतु तू समझ सकेगा। तेरी चित्त प्रसन्नता चाहता हूं। ❐

इतिहास अमर है

मुनि वत्सराज

तेरा गौरव-मय जीवन इतिहास अमर है,
निर्मल चिंतन से निकला विश्वास अमर है।

तूने जीवन को संघर्षों की संज्ञा दी थी,
प्राणों से भी प्यारा, अपना प्रण माना था,
सुख से ऊपर दुःख से ऊपर तूने केवल,
चिन्मय को ही जीवन का दर्पण माना था,
पतझर के आते ही फूलपात सब झर जाते हैं।
लेकिन तेरी कोकिल का मधुमास अमर है।।

दीपक तू था तूफानों में जलने वाला,
सत्य-पुजारी बलिदानों में पलने वाला,
स्नेह कहां था? पग-पग पर अभिशाप मिले थे,
तू सेनानी ताल ठोक कर चलने वाला,
काल चक्र के चिर प्रवाह में छिपते चांद-सितारे।
लेकिन तेरा ज्योतिर्मय आकाश अमर है।।

महा स्रोत बन भूतल पर अवतार लिया था,
श्रद्धा संयम को अभिनव आकार दिया था,
प्यासे को जीवन पीयूष पिलाया,
पाप-ताप जड़-कुंठा का संहार किया था,
शिव-शंकर तू गरल-पान कर जीने वाले।
तेरे अक्षत-तप का, चिर अभ्यास अमर है।। ❐

निर्भय नहीं तो छलांग लगाइए

चिंतन : स्वयं का भोगा हुआ यथार्थ, अन्यत्र भोगे हुए यथार्थ का मंथन, अपने सोचने की प्रक्रिया, दूसरों के सोच के मंदिर में स्थापित पुजारी, सच तो झूठ भी, सहज तो दुर्गम खंडहरों का इतिहास भी, वर्तमान है वह, भविष्य और व्यतीत भी।

खुशी : हमारी खुशी दूसरों की नहीं हो सकती, वैसे ही जैसे कीचड़ से उठता हुआ कमल कीचड़ की मात्र मजबूरी है।

–खुशी का रास्ता रंगरेलियों का मजमा नहीं है, संभव है उसके बाद वह इतना बड़ा तनाव दे जाए कि हम टूट कर बिखर जाएं।

–मेरी तरह आप भी स्वीकार नहीं करते इसे कि– उसे नाई के द्वार प्रतीक्षा करने दो जो एक दिन की खुशी चाहता है, उसे बंदनवारों से सजे विवाह मंडप में जाने दो जो एक सप्ताह की खुशी चाहता है, हरे चरागाहों में छोड़ दो 'रेसकोर्स' के घोड़े के ऊपर से जो एक महा खुश रहना चाहता है, उसे चाहिए नया मकान जो एक वर्ष खुशी से व्यतीत करने को व्याकुल है, लेकिन यदि जिंदगी की अंतिम सांसों तक खुश रहना चाहता है कोई तो उससे कहो, इसकी पहली शर्त है वह आदमी तो बने, एक नेक ईमानदार मनुष्य?

स्त्री : पुरुष का दिल बहुत बड़ा होता है, नारी उसकी समानता नहीं कर सकती!

–मजबूर हूं यह कहने के लिए कि दोपहर में एक ऐसे व्यक्ति को देखा था, जो एक मामूली हवाई बंदूक से सूरज पर गोली चला रहा था। वह व्यक्ति एक स्त्री थी!

–'नारी तुम श्रद्धा हो', मेरी श्रद्धा तुम्हें मंदिर में देवता बनाकर पूजने मात्र में है ताकि मेरी शेष जिंदगी खतरनाक मोड़ों से बच जाए।

–जिस दिन पुरुष ने कहा–'मैं तुम्हें चाहता हूं, उसी दिन उसने अपनी कब्र खोद ली।'

–घड़ी की तरह धड़कन के साथ औरत बदलती है, अपनी युवावस्था उसने जिनके साथ व्यतीत की है, बाद की स्थितियों में वह उनसे मिलने में कतराती है। वह अपने व्यतीत से हमेशा भयभीत रहती है और भविष्य को संशय से देखने की आदी है। सुना है, किसी स्त्री ने अपने पुराने प्रेमी को एक फोटो भेजा था। उसके नीचे लिखा था–'बस इसे देखते रहना और बीते दिनों की याद करना, इस महायज्ञ की मात्र यही आहुति है, जो तुम्हें भेज रही हूं।'

–एक खूबसूरत फूल उसने तोड़ा था! कुछ दिन वह फूलदान में रहा, कुछ समय बाद उसने सूखे हुए फूलों की पंखुड़ियां तोड़कर अलग-अलग कर दीं और पुस्तकों के पृष्ठों में अलग-अलग दबा दिया। प्रत्येक पृष्ठ एक क्षेपक था।

पुरुष : प्लूटो की इस उक्ति को कितने लोग समर्थन देंगे कि पुरुष बिना पैरों का दो पाया है! मैं कहता हूं, ठीक है एकदम, जमीन पर रहने के लिए पाए ही तो चाहिए।

–शिकारियों के इतिहास में पुरुष से खूंखार जानवर कोई और नहीं लिखा मिलेगा, क्योंकि हर मनचाहे प्राणी को वह मारे बिना नहीं रहता! यहां तक कि वह अपनी नस्ल और अपनी जाति पर भी हमला करता है!

–एक सीमा तक पुरुष को तर्क बर्दाश्त है, इसके बाद वह चाहता है कि उसकी अपनी परिभाषाएं सनातन सत्य बन जाएं, वह आगे तर्क के लिए तैयार नहीं होता।

–ऋषि, महर्षि, भगवान, स्वामी, संन्यासी–छलनामय विशेषणों की ये पंक्तियां पुरुष ने मात्र अपने लिए निर्मित की हैं!

–पुरुष इतिहास की वह दास्तान है, जो महलों को गढ़ता है और अपने ही गढ़े महलों को तोड़ता है! ये महल मिट्टी या चूने के हों अथवा खून और पानी के हों!

–कागजों की तरह फाड़ सकता है कौन सारे संबंधों को–पुरुष ही तो, लेकिन वही है जो बाद में उन फटे हुए कागजों को सबकी नजरें चुराकर चुपचाप जोड़ने की कोशिश भी करता है।

पुस्तक : एक दुविधा–कुछ लोगों के लिए पुस्तक जेब में रखा हुआ बगीचा है, बहुत लोगों के लिए वह किराने की दुकान का अविभाज्य अंग है!

–वह कतई अकेला नहीं है, जिसके पास एक अच्छी पुस्तक है।

–मानव मन की ग्रंथियां, इतिहास की रक्त-क्रांतियां, अहिंसा का धर्म, मनुष्य की जय-पराजय, उसका उद्‌भव-विकास फिर ह्रास भी, नाश-विनाश के क्षण, प्रतिगामी और पूर्वगामी शक्तियों का संचयन, प्रेम और घृणा के बीच की बारीक रेखा, टूटते और जुड़ते संदर्भों का अंधकार या प्रकाश, जीवन की प्रथम निष्पत्ति से लेकर अंतिम क्षण तक की अनुभूतियां और केवल शेष रह जाने वाला दस्तावेज यदि कोई है, तो वह मात्र एक पुस्तक।

– एक पुस्तक एक की जिंदगी का सागर है, वही पुस्तक सभी की जिंदगी के लिए महासागर भी तो है!

– जिंदगी : जिंदगी एक जुआ है : उसे देखो तो।

– जिंदगी एक चुनौती है : उसका सामना करो

– जिंदगी एक खुशी है : उसे खर्च करो

– जिंदगी एक संघर्ष है : उसे स्वीकारो

– जिंदगी एक जादूमहल है : उसे उजागर करो

– जिंदगी एक दर्द है : उस पर काबू पाओ

– जिंदगी एक दु:ख है : सामना करो

– जिंदगी एक प्यार है : उससे प्यार करो

– जिंदगी एक गीत है : जी भर गाओ

– जिंदगी एक धर्म है : जहां तक हो सके उसे निबाहो

– जिंदगी एक वरदान है : उसका आलिंगन करो

– जिंदगी एक सपना है : उसका अनुभव करो

– जिंदगी एक यात्रा है : उसे हंसते हुए पूरी करो

– जिंदगी एक पहेली है : उसे हल करो

– जिंदगी एक अवसर है : उसे मुट्ठी में बंद कर लो

– जिंदगी बस जिंदगी है : तो चिंता किस बात की! उधार मुहब्बत की कैंची है! और अंत में :

– भय कैसा, किसका?

– पाप क्या है? क्या एक सच नहीं?

– पुण्य लाभ है, पर दूसरी जिंदगी के लिए।

– जीना है तो निर्भयता उसका कवच है।

– निर्भय नहीं हैं आप तो छलांग लगाने के लिए आसमानी इमारतें तो बहुत हैं। ❑

–साभार 'कालचिंतन' पुस्तक से

गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्

मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

1. **रविसमं सततं हि तमोहरं, शशिसमं विपुलं च मनोहरम्।**
सकल जागृति पुण्य-निबन्धनं, गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्।।

सूर्य के समान निरंतर तिमिर ध्वंसक, पूर्णचंद्र के सदृश भरपूर मनोहर और सर्वांगीण जागृति के पावन स्रष्टा, सब प्रतिबद्धताओं से मुक्त निर्लिप्त गणिवर तुलसी को मैं विनम्र प्रणाम करता हूं।

2. **सुरलतेव-चराचर-तुष्टिदं, भुविसुधेव-रसायन-पुष्टिदम्।**
विषमताऽऽतप-तापित-चन्दनं, गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्।।

कल्पलता के तुल्य सकल चराचर को तृप्ति देने वाले और अमृतधारा रसायन के समान पुष्टि देने वाले, विषमता के आतप से उतप्तजनों के लिए जो चंदन के समकक्ष शीतल हैं, मैं उन गणिवर तुलसी को प्रणाम करता हूं।

3. **शुभमति वर वांछित दायकं, शुचिगतिं चिर शान्ति-विधायकम्।**
शिवपति क्षिति-पाप-निकन्दनं, गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्।।

जिनकी प्रज्ञा बहुत पवित्र और प्रखर है एवं वांछितदायक है। जिनकी विशुद्ध प्रत्येक क्रिया चिर शांति संवर्धक है और जो कल्याण शिरोमणी पृथ्वी का पाप मिटाने वाले हैं, मैं उन गणिवर तुलसी को प्रणाम करता हूं।

4. **दनुनता-दलने हि पुरन्दरं, मनुजताऽऽ-कलने ध्रुव-सुन्दरम्।**
विगुणता-तरु-कण्टक-भंजनं, गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्।।

दानवता का उन्मूलन करने के लिए जो सुरेंद्र के समान ओजस्वी हैं। मानवता का आकलन–वृद्धिकरण के लिए नित्य श्रेष्ठ हैं और दुर्गुणों के तरु कंटकों के भंजक हैं, मैं उन गणिवर तुलसी को प्रणाम करता हूं।

5. **जलधरोपम विघ्न विनाशकं, मनुज मानस पद्म विकासकम्।**
निखिल विश्व-निरन्तर-नन्दनं, गणिवरं प्रणमामि निरंजनम्।।

जलधर के समान विघ्न, बाधा और अभावों से छुटकारा दिलाने वाले, मनुष्यों के मानस कमलों को खिलाने वाले और अखिल विश्व को निरंतर आनंदायक गणिवर तुलसी को मैं प्रणाम करता हूं। ❑

सादर प्रकाशनार्थ

सूचना

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन

1-2-3 अगस्त, 2014, दिल्ली

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में आचार्यश्री महाश्रमणजी के सान्निध्य में तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन 2014 का त्रिदिवसीय आयोजन 1-2-3 अगस्त, 2014 को अध्यात्म साधना केन्द्र, मेहरौली, दिल्ली में आयोजित किया जा रहा है।

तेरापंथी सभाओं से चार अधिकृत प्रतिनिधि भेजने हेतु सादर निवेदन है। सभा के वरिष्ठ पदाधिकारियों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है। इस सम्मेलन में संघीय व सामाजिक गतिविधियों के संबंध में विशद् चर्चाएं होंगी।

उक्त अवसर पर महासभा से एफिलियेटेड तेरापंथी सभाओं में से निर्धारित अर्हताओं के आधार पर एक श्रेष्ठ सभा एवं दो विशिष्ट सभाओं का चयन भी किया जाएगा। सम्मेलन को सार्थक बनाने हेतु आपके सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

अधिक जानकारी हेतु महासभा प्रधान कार्यालय, कोलकाता से 033-22357956/22343598 तथा 09830825193 नंबरों पर संपर्क किया जा सकता है।

बिनोद बैद
महामंत्री

कमल कुमार दूगड़
अध्यक्ष

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(ISO 9001 : 2008 प्रमाणित संस्था)

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : 033-22357956, 22343598 फैक्स : 033-22343666

विनोद बैद, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

B.N. GROUP

स्व. श्री बच्छराजजी-रतनीदेवी नाहटा

की पुण्य स्मृति में

शासनसेवी

बिमल-सुशीला, संदीप-मीता

सलोनी, प्रियंक, सांची नाहटा

सरदारशहर-गुवाहाटी

KAMAKHYA UMANANDA BHAWAN
A.T. ROAD, GUWAHATI 781001 (ASSAM)

जैन भारती, जुलाई, 2014 ■ प्रेषण दिनांक 28 जून, 2014
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन
बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन
बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779
नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।